अंक : ११९

जुलाई -सितंबर २०१२

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

गोविंद उपाध्याय, गजेंद्र रावत, युगेश शर्मा, कुंवर प्रेमिल, डॉ.रमाकांत शर्मा

आमने - सामने
डॉ.रमाकांत शर्मा

सागर -सीपी
राजेंद्र गुप्ता

१५ रुपये

जुलाई-सितंबर २०१२

(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"
संपादिका
मंजुश्री
संपादन सहयोग
जय प्रकाश त्रिपाठी
अश्विनी कुमार मिश्र
अशोक वशिष्ठ
हम्माद अहमद ख़ान

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

●सदस्यता शुल्क●
आजीवन : ५०० रु., **त्रैवार्षिक** : १२५ रु.,
वार्षिक : ५० रु.,
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा केवल **"कथाबिंब"** के नाम ही भेजें.

●रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ●
ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई-४०० ०८८.
फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८

● **न्यूयॉर्क संपर्क** ●
Naresh Mittal, Gerard Pharmacy,
903 Gerard Avenue, Bronx NY 10452
Tel : 718-293-2285, 845-304-2414 (M)

●**"कथाबिंब" वेबसाइट पर उपलब्ध**●
www.kathabimb.com

e-mail : kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

कहानियां

एक था हीरो... – **गोविंद उपाध्याय** ७
दुनिया में... – **गजेंद्र रावत** १३
अन्ना की टोपी – **युगेश शर्मा** १९
टेबिल, यानि मेज़ – **कुंवर प्रेमिल** २७
खारा पानी, मीठा पानी – **डॉ. रमाकांत शर्मा** ३१

लघुकथाएं

आक्रांति / **डॉ. अशोक गुजराती** १८
करौंदे का पेड़ / **कमलेश भारतीय** २५
तीन लघुकथाएं / **कुंवर प्रेमिल** २९
आंखें / **किशनलाल शर्मा** ३७

ग़ज़लें / कविता / दोहे

ग़ज़ल / **युसुफ खान "साहिल"** ११
वह अजीब तमाशबीन है ! / **जितेंद्र जितांशु** १२
ग़ज़ल / **डॉ. अशोक "गुलशन"** १२
ग़ज़ल / **डॉ. दीप बिलासपुरी** १२
ग़ज़ल / **मनाज़िर हसन "शाहीन"** १७
चलना है तब तक / **खदीजा खान** २३
प्रकृति परक दोहे / मधु प्रसाद ३३
ग़ज़लें / **राजेंद्र निशेश, डॉ. शशि श्रीवास्तव** ४३

स्तंभ

"कुछ कही, कुछ अनकही" २
लेटर बॉक्स ४
"आमने-सामने" / **डॉ. रमाकांत शर्मा** ३९
"सागर-सीपी" / **राजेंद्र गुप्ता** ४४
"बाइस्कोप" (*सविता बजाज*) / **चाचा चौधरी** ४८
पुस्तक-समीक्षा ५०

आवरण चित्र : तूलिका सक्सेना
कोलेरॉडो नदी पर बने बांध से बनी मीड झील का हेलीकॉप्टर से लिया गया विहंगम चित्र (*ग्रैंड कैनयॉन, अमरीका*).

"कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

कुछ कही, कुछ अनकही

"कथाबिंब" का यह, वर्ष २०१२ का तीसरा अंक (११९) है. कथाबिंब की वेबसाइट पर अब तक प्रकाशन के तुरंत बाद, वर्ष २००८ से अंक उपलब्ध हो जाते थे. यह प्रसन्नता का विषय है कि अब पाठक, वेबसाइट पर २००१ से अब तक के सभी अंक देख-पढ़ सकते हैं. पिछले कुछ वर्षों से *"कथाबिंब"* का प्रकाशन *"संस्कृति संरक्षण संस्था, मुंबई"* के सौजन्य से हो रहा है. यह संस्था पूरे साल में अनेक कार्यक्रम आयोजित करती है. हाल ही में, २ सितंबर को ५वीं से ७वीं कक्षा के विद्यार्थियों के लिए संस्कृत-श्लोक वाचन प्रतियोगिता आयोजित की गयी. पहले चरण में, विभिन्न स्कूलों के लगभग १००० बच्चों को, भावार्थ सहित ४० सुभाषित श्लोकों की पुस्तिकाएं दी गयीं. प्रत्येक स्कूल ने चुनकर ४-४ छात्रों को अंतिम चरण की प्रतियोगिता हेतु भेजा. प्रतियोगिता का उद्देश्य देवभाषा संस्कृत का प्रचार-प्रसार करना है. प्रतियोगिता में भाग लेने से विद्यार्थियों को संस्कृत बोलने के अनुभव के साथ-साथ संस्कृत भाषा में रचित सुभाषितों के भावार्थ समझने और उन्हें आत्मसात करने में सहायता मिलती है. इसी क्रम में, २३ सितंबर को, दो वर्गों में - १३ से १६ व १७ से २२ वर्ष के विद्यार्थियों के लिए एक ऑन-द-स्पॉट काव्य-सृजन प्रतियोगिता आयोजित की गयी. इसमें लगभग १०० छात्रों ने भाग लिया. कहना न होगा कि दोनों ही कार्यक्रम काफ़ी सफल रहे. संस्था संबंधी अधिक जानकारी अंक के अंतिम पृष्ठ पर दी गयी है जो व्यक्ति सहयोग देना चाहें कृपया संपर्क करें.

●

अब इस अंक की कहानियों की बानगी -- पहली कहानी *"एक था हीरो..."* के लेखक गोविंद उपाध्याय का नाम *"कथाबिंब"* के पाठकों के लिए नया नहीं है. युवावस्था में हर किसी के जेहन में एक हीरो की परिकल्पना जन्म लेती है. शायद जो कुछ हममें नहीं होता है वह बेसाख़्ता किसी दूसरे में हम ढूंढ़ने लगते हैं. यह सब पारिवारिक या सामाजिक वर्जनाओं के तहत होता है. लेकिन समय के साथ अक्सर यह मिथ भंग हो जाती है. अगली कहानी *"दुनिया में ..."* (गजेंद्र रावत) की नायिका अपनी गृहस्थी में व्यस्त है लेकिन उसे अपनी बीमार मां की चिंता भी है जो उसी शहर में अकेली रहती है. भाई-भावज मां के घर के पास ही रहते हैं पर वे किसी प्रकार की ज़िम्मेदारी नहीं उठाना चाहते. मां के एक फ़ोन आने पर ख़राब मौसम के बावजूद भी आभा मां से मिलने निकल पड़ती है. मां का इंतज़ार करते हुए उसे एक अलग दुनिया का अनुभव होता है. अन्ना के आंदोलन ने आज़ादी के बाद पहली बार गांधी टोपी को लोगों के सिरों पर दोबारा सुशोभित होने का अवसर दिया है. लेकिन ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो महज टोपी पहन कर दूध से धुले होने का नाटक करने में व्यस्त हैं, अन्ना की टोपी को भी वे भुनाना चाहते हैं (*"अन्ना की टोपी"* -युगेश शर्मा). कुंवर प्रेमिल की कहानी *"टेबिल, यानि मेज़"* उन दिनों से प्रारंभ होती है जब एक कमाता था और दस खाते थे. मुफलिसी में लोग जैसे-तैसे जीवन की गाड़ी खींच कर ख़ुश थे. आज संयुक्त परिवार ख़तम हो रहे हैं. आसमान छूती महंगाई के चलते मध्यम आय वाले व्यक्ति के लिए अपने छोटे से परिवार का जीवन-यापन भी दुष्कर हो गया है. डॉ.रमाकांत शर्मा की कहानी *"खारा पानी, मीठा पानी"* महानगरी मुंबई की कहानी है. मुंबई का आकर्षण इतना जबरदस्त है कि जीवन में हर कोई कम-से-कम एक बार मुंबई देखना चाहता है. मुंबई को कॉन्क्रीट का जंगल कहा जाता है. लगभग चारों तरफ़ समुद्र है जिसका पानी खारा है. ज़मीन सीमित है, अट्टालिकाओं की ऊंचाइयां नित नये कीर्तिमान बना रही हैं. सुबह, दोपहर, शाम हर कोई भाग रहा है. किसी के पास समय नहीं है. पड़ोसी भी एक-दूसरे को नहीं पहचानते. हमें उम्मीद भी नहीं होती लेकिन खारे पानी के बीच, मीठे पानी के सोते भी अक्सर निकल ही आते हैं.

●

कुछ लोगों का कहना है कि *"कथाबिंब"* साहित्यिक पत्रिका है, संपादकीय में मात्र साहित्य की विभिन्न विधाओं और संबंधित समस्याओं को लेकर ही चर्चा होनी चाहिए, राजनीति को इससे परे रखना चाहिए. इस संबंध में पहले भी लिखा जा चुका है कि हमारे दिन-प्रतिदिन के सरोकारों को जिस तरह देश की राजनीति आज प्रभावित कर रही है वैसा भारतीय इतिहास में कभी भी नहीं हुआ. वे दिन लद गये जब लेखक स्वांतः सुखाय लेखन में प्रवृत रहकर "सरवाइव" कर सकते थे. आज के साहित्यकारों, ख़ासकर हिंदी के लेखकों के समक्ष बिल्कुल ही अलग तरह की चुनौतियां हैं. साहित्य सृजन के साथ लेखक को कोई न कोई ऐसा कार्य अवश्य करना पड़ता है जो उसकी नून-तेल-लकड़ी की दैनिक ज़रूरतों को पूरा कर सके. लेखक कोई अलग प्राणी नहीं है वह भी हाड़-मांस का बना आम आदमी ही है. अपने सरोकारों को अच्छी तरह समझने के लिए वर्तमान राजनीतिक परिवेश को पूरी तरह समझना लेखक के लिए अति आवश्यक है तभी वह ऐसा कुछ रच पायेगा जो

हमें तमाम विसंगतियों, विरोधाभासों से जूझने की ताक़त दे सके. उसके चारों ओर जो घट रहा है उसके प्रति निरंतर जागरूक होना बहुत ही ज़रूरी है.

●

वर्तमान परिस्थितियों में आम आदमी जिसे कुछ लोग "मैंगो मैन" कहने लगे हैं, सबसे अधिक दिग्भ्रमित है. वह परिवर्तन लाना चाहता है पर कैसे ? एक बार चुनाव जीतकर गद्दी पर बैठे लोग कितनी भी मनमानी करें पांच साल से पहले हटाये नहीं जा सकते. यदि उनके विरोध में कुछ कहा जाता है तो यह लोकतंत्र पर आक्षेप है, संसद की अवमानना है. अन्ना हज़ारे, बाबा रामदेव या अरविंद केजरीवाल आंदोलन करते हैं तो ये लोग "सिविल सोसायटी" के लोग हैं. सड़क के लोगों से सरकार के नुमाइंदे बात नहीं करना चाहते. अगर कुछ परिवर्तन लाना है तो राजनीतिक दल बना कर चुनाव लड़िए. सबको मालूम है कि लोकसभा या विधानसभा का चुनाव लड़ना कितना ख़र्चीला होता है, एक साधारण आदमी के लिए तो यह संभव ही नहीं. अन्ना हज़ारे और किरण बेदी चुनाव लड़ने के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते लेकिन अरविंद केजरीवाल के अनेक साथियों ने इस चुनौती को स्वीकारा है और चुनाव लड़ने की तैयारियां शुरू कर दी हैं. नित नये घोटाले उजागर हो रहे हैं. लेकिन सबको मालूम है कि कुछ नहीं होने वाला. कमीशन बैठेंगे, सालों जांच होती रहेगी.

जब अन्याय की सीमा हद से गुजर जाती है तो मैंगो मैन का आक्रोश आकाश छू लेता है. अभी हाल ही की बात है, नागपुर में, झुग्गी-झोपड़ी में रहने वालों की भीड़ ने इकबाल शेख नाम के गुंडे को गड़ासे, भालों से मार-मार कर मौत के घाट पहुंचा दिया और उसके बाद सीताबुल्दी पुलिस स्टेशन जाकर देर रात तक तोड़-फोड़ करते रहे. बहुत दिनों से लोगों में आक्रोश उबल रहा था कि तमाम शिकायतों के बाद भी क्यों पुलिस कार्यवाही नहीं करती. दोनों भाई, अकरम शेख और इकबाल शेख हाइवे के पास एक वातानुकूलित जुआं का अड्डा चलाते थे तथा लड़कियों और औरतें को कभी भी पकड़ कर मुंह काला करते थे. एक बार तो सद्यः प्रसूता को पकड़ कर तीन-चार लोगों ने मिलकर सामूहिक बलात्कार किया. किसी अन्य औरत ने विरोध किया तो उसके शरीर पर ब्लेड से गहरे निशान बना दिये थे. किसी का बदन जलती सिगरेट से जगह-जगह दाग दिया. सन २००० से दोनों भाइयों का अत्याचारी गुंडा राज चल रहा था. इससे पहले अकरम मात्र एक रैगपिकर हुआ करता था, पुलिस प्रश्रय के चलते धीरे-धीरे उसने अपने "नेटवर्क" का विस्तार किया. लोगों का कहना है कि वे अकरम को भी छोड़ेंगे नहीं. सन २००४ में, नागपुर में ही इसी प्रकार की एक घटना हुई थी जब तंग आकर महिलाओं और बच्चों ने अक्कू यादव नाम के गुंडे को सरेआम मार डाला था. प्रश्न यह उठता है कि जब कहीं कोई सुनवाई नहीं हो तो आम आदमी करे तो क्या करे ?

●

एक अंक से दूसरे अंक की तिमाही में इतने अधिक मुद्दे उपस्थित हो जाते हैं कि यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि किस पर टिप्पणी की जाये और किसको छोड़ा जाये. शंकर द्वारा बनाया अंबेडकर-नेहरू का कार्टून, जिसमें डॉ. बाबा साहब अंबेडकर को संविधान नामक घोंघे पर, हाथ में कोड़े के साथ बैठा दिखाया गया है. नेहरू जी के हाथ में भी कोड़ा है, वे भी घोंघे को हांक रहे हैं. यह कार्टून जब छपा था तो किसी का ध्यान उस ओर नहीं गया. लेकिन कैसे ग्यारहवीं के पाठ्यक्रम की किताब में आ गया ? इस पर कुछ दिन पूर्व काफ़ी हंगामा हुआ. समिति बनायी गयी और शीघ्र ही अन्य पुस्तकों में से भी इस तरह के "चोट पहुंचाने वाले" कार्टूनों को हटा दिया गया. असीम त्रिपाठी को भी कार्टूनों ने जेल की हवा खिलवाई. लेकिन उन्हें नुकसान नहीं हुआ. वे सेलीब्रेटी बनकर "बिग बॉस" में पहुंच गये. कुछ दिन पूर्व "टाइम्स" पत्रिका के आवरण पर डॉ. मनमोहन सिंह का चित्र छपा था जिसके साथ छपा था "द अंडर-अचीवर." अंदर, लेख में लिखा था कि प्रधानमंत्री पूरी चुप्पी साधे हैं, वे किसी प्रकार के निर्णय नहीं ले पा रहे हैं. इस पर प्रवक्ताओं ने यह कहा कि उनका पक्ष पत्रिका ने सामने नहीं रखा. इधर पेट्रोल के दामों को लेकर ममता बनर्जी ने समर्थन वापस ले लिया. फिर भी अमरीका के दबाब में आकर अल्पमत वाली सरकार ने एफडीआई के लिए कैबिनेट की मंजूरी दे दी. अमरीका में वालमार्ट का विरोध हो रहा है लेकिन हमसे कहा जा रहा है कि कृषकों को सही दाम मिलेगा, कोल्ड स्टोरेज़ लगाये जायेंगे. लेकिन कोई बताये कि बिजली की जब इतनी कमी है तो इन कोल्ड स्टोरेज़ों के लिए बिजली कहां से उपलब्ध होगी. सही-ग़लत, इतने सालों से कोयले की खानों के आवंटन के बाद भी कोयले का खनन क्यों नहीं हुआ ? क्यों हमारे थर्मल बिजली घर मात्र ४०-५० प्रतिशत क्षमता पर चलते हैं? प्रश्न ही प्रश्न हैं, जवाब कौन देगा ?

अरविंद

लेटर-बॉक्स

▸▸ 'कथाबिंब' (अप्रैल-जून २०१२) मिली. सभी कहानियां बहुत अच्छी लगीं. सचमुच ये कहानियां पाठक को बांधे रखने वाली कहानियां हैं. यों तो 'कहानियां' नाम से ढ़ेर सारी रचनाएं छप रही हैं किंतु उनमें कहानियां ढूंढ़े नहीं मिलतीं. 'कथाबिंब' में कहानी चयन स्तुत्य होता है. 'रंगों की पहचान' यद्यपि अच्छी कहानी है तथापि ऐसा लगता है कि प्रारंभ में भावों में बहकर अधिक विस्तार देने का प्रलोभन लेखिका संवरण नहीं कर पायी. शीर्षक को भी वंदना ने अपने रंग में रंगकर कहानी से कुछ दूर कर दिया. 'मुंसी ताऊ' (अशोक वशिष्ठ) की क़लम में प्रभाव है, शैली में रस है. यह एक संस्मरणात्मक कहानी है, जो अपने रोचक तेवरों द्वारा पुरानी और नयी पीढ़ी के अंतर को भी चिन्हित करने में सफल हुई है. 'युगांत' (महेश कटारे 'सुगम') कथानक भिन्नता के उपरांत भी मुंसी ताऊ के समानांतर समय परिवर्तन का सफल अंकलन कर पायी है. 'शिनाख़्त' जैसी कहानी कभी-कभी ही पढ़ने को मिल पाती है; जो कथा-पठन की पिपासा को तृप्त कर देती है. तदर्थ प्रजापति जी को अनेकशः बधाई. 'फ़सल' भी पठनीय है. हां, आज के व्यस्त जीवन में इतनी विस्तृत कहानियां उबा देती हैं. लाघव की प्रवृति ने ही तो लघुकथाओं को अवतरित किया है. लघुकथाओं का चयन भी सराहनीय रहा. ये सचमुच लघुकथाओं के नाम को सार्थक करती हैं. कविताओं में गिरीश श्रीवास्तव की कविताओं को मैं क्षणिकाएं कहना पसंद करता हूं, ये भी प्रभाव छोड़ती हैं.

सुरेंद्र अंचल

साहित्यलोचन मंच, २/१५२, ब्यावर, अजमेर (राज.)

▸▸ 'कथाबिंब'-११८ (अप्रैल-जून २०१२), वंदना शुक्ल की कहानी 'रंगों का पटाक्षेप' अंक की सर्वश्रेष्ठ रचना है. यह तान्या के अकेले संघर्ष की कथा है. असाध्य रोग से पीड़ित अपने इकलौते पुत्र सोम के साथ वह जी रही है, पति प्रतीक शाह सी. ए. एक तटस्थ पिता है. उसे अपने धंधे ही से फ़ुर्सत नहीं है. नायिका तान्या संघर्ष से भयभीत नहीं है, किंतु उसे एक बौद्धिक सुकून चाहिए जो उसका पति मुहय्या नहीं करवा रहा है. ऐसे में उसका दूरभाषिक संवाद संभव श्रीवास्तव से होता है, जो उसे न कि बौद्धिक संबल प्रदान करता है, बल्कि भावनात्मक भी. अंत में संभव श्रीवास्तव तान्या का समानधर्मा सिद्ध होता है क्योंकि वह भी असाध्य रोग से पीड़ित अपनी पत्नी की सेवा में लगा है, अशोक वशिष्ठ की कहानी 'मुंसी ताऊ' एक व्यक्तिचित्र शैली में लिखित रचना है. नायक मानवीय संवेदना से युक्त है पर उसे ग़लत समझा जाता है. ख़ासकर तब जब एक मानसिक अस्वस्थ अधेड़ औरत को ताऊ प्रश्रय देता है जो गर्भवती हो जाती है. ताऊ लात मारकर उसका गर्भ गिरा देता है. वह औरत भाग जाती है. कहानीकार अशोक अंत तक यह सिद्ध नहीं कर पाये कि ताऊ अच्छे व्यक्ति थे या बुरे. कहानी का उद्देश्य भी अस्पष्ट है. महेश कटारे 'सुमन' ने कहानी 'युगांत' में एक स्त्री रानी बऊ का व्यक्तिचित्र खींचा है. कहानीकार तटस्थ होकर उसका जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है. नायिका को अच्छी सिद्ध करता है. कह सकते हैं कि एक संघर्षधर्मी स्वाभिमानी स्त्री की कथा है यह. अशोक कुमार प्रजापति की कहानी 'शिनाख़्त' ताकतवर के अन्याय और कमज़ोर की पराजय की करुण त्रासदी है. इसका सकारात्मक पहलू इसमें दिखाया गया, पुलिस का मानवीय चेहरा है. एक निर्दोष निरीह का निर्दोष पुत्र मारा जाता है. उसकी अतीत की पुत्रवधू आज खलनायक की पत्नी है. परिस्थिति वश अपने मृत पति व जीवित ससुर को पहचानने से नकार जाती है. यहां तक कि अपनी औलाद से मुंह फेर लेती है. यह ग़रीब पर अमीर के अत्याचार की सनातन कथा है.

हितेश व्यास

१, मारुति कॉलोनी, नयापुरा, कोटा (राज.)

▸▸ 'कथाबिंब' का ताज़ा अंक ११८ प्राप्त हुआ, धन्यवाद. अंक की पहली कहानी, वंदना शुक्ल की 'रंगों का पटापेक्ष' दिल को छू गयी. बिल्कुल नये विषय पर मनोवैज्ञानिक कहानी है. इधर नयी पीढ़ी की पढ़ी लिखी घरेलू जीवन जी रही महिलाओं की कुंठा और डिप्रेसन को अभिव्यक्ति देती है. इस कहानी का अंत तो कहानी की तरह हो गया किंतु अनेक स्त्रियों में यह कुंठा कायम है

उसका अंत नहीं दिख रहा है. एक तड़प है छटपटाहट है सब कुछ मिलने के बाद भी अपनी पहचान, अपनी योग्यता का प्रयोग न कर पाने की तड़प है. उसका क्या अंत हो विचारणीय है. अंक की सभी सामग्री स्तरीय है. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव की कविताएं पसंद आयीं. बहुत दिनों बाद उन्हें पढ़ने का मौक़ा मिला. पलाश विश्वास की आत्मकथा भी महत्वपूर्ण है. नक़्श लायलपुरी के बारे में रोचक जानकारी मिली. अच्छे अंक के लिए बधाई. उम्मीद है पत्रिका का स्तर ऐसे ही बनाये रखेंगे.

श्रीरंग

१२८ एम/१ आर, कुशवाहा मार्केट,

भोला का पुरा, प्रीतमनगर, इलाहाबाद-२११०११

▶▶ 'कथाबिंब' के आरंभ में संपादकीय 'कुछ-कही, कुछ अनकही' के तहत आपने ज्वलंत मुद्दे पर सवाल उछाला है. और फिर उसे अपने ढंग से डील भी कर दिया है. आपका यह अंदाज काबिल-ए-तारीफ़ है. आपने लिखा है, अमरीका की चमक-दमक ने मुझे कभी प्रभावित नहीं किया. पहली बार अमरीका से लौटकर मैंने एक लेख लिखा - 'भारत को भारत में खोजिए.' किंतु कितने प्रतिशत ऐसे प्रवासी भारतीय हैं, जो भारत को भारत में खोजना चाहते हैं? और जो अमरीका की चमक-दमक के आगे देशप्रेम को महत्व देते हैं? देश के प्रति ऐसी उत्कट भावना होती तो पढ़ने-लिखने के बहाने विदेश जानेवाले भारतीय युवा अपना भविष्य अपने देश में ही तलाशते, किंतु पैसे का लोभ सही नैतिकता और देशप्रेम की भावना को उड़न छू कर देता है. ऐसे लोग न अपने देश के रह पाते हैं, न विदेश के. विदेशी भी इन्हें हीन भावना से ही देखा करते हैं, जो अपनी मां का आंचल छोड़कर रेशमी आंचल के मोह में फंसा दूर से मां की ममता की सराहना कर रहा होता है. आपने ऐसे लोगों की आंखें खोलने का सार्थक प्रयास किया है. किंतु लोग जागना चाहें तब न? 'सत्यमेव जयते' से भी लोगों को प्रेरणा लेनी चाहिए. किंतु ऐसे लोगों द्वारा ऐसे कार्यक्रम भी उपहास का विषय बनकर रह जाते हैं.

वंदना शुक्ल की कहानी 'रंगों का पटाक्षेप' का आरंभ आकर्षित करता है – 'कभी-कभी मुझे लगता है कि यदि सपनों का अस्तित्व न होता तो आदमी को ज़िंदगी के भ्रमों को फेस करने की आदत ही न पड़ती. दूसरी तरफ़ जूता गांठनेवाले ग़रीब सुजान चौधरी की बेबस ज़िंदगी की गांठ खोलती हुई एक सक्षम कहानी है. अशोक प्रजापति की 'शिनाख्त' कहानी लंबी है किंतु बोर नहीं करती. कविताओं में गिरीश चंद्र श्रीवास्तव की छोटी-छोटी कविताएं भीतर तक उतर जाती हैं, वहीं ग़ज़लों में डॉ. नलिन की ग़ज़लों का अपना अलग आकर्षण है- 'चार दिन प्रतिकार करते हैं. फिर वही स्वीकार करते हैं.' 'पीर वे देते रहे हैं, हम रात-दिन जयकार करते हैं.'

'आमने-सामने' स्तंभ के तहत पलाश विश्वास का आत्मकथ्य. 'अभिव्यक्ति के सारे रास्ते बंद नहीं हुए हैं' तथा मधु अरोड़ा द्वारा कथा लेखिका डॉ. सुधा ढींगरा से ली गयी भेंटवार्ता भी इस अंक की उपलब्धि है. साहित्य के क्षेत्र में गुटबाज़ी के चलन वाले सवाल के जवाब में डॉ. सुधा कहती हैं- 'गुटबाज़ी से नुकसान तो हमेशा होता ही है और होता रहेगा. अपने गुट के लेखकों की कमतर रचनाओं को भी सराहा जाता है. विपरीत गुट की उत्तम रचनाओं की धड़ल्ले से आलोचना की जाती है.' मुझे विश्वास है आप भी इन बातों से सहमत होंगे. यही बात जब मैं कहता हूं तो न जाने क्यों लोगों के चेहरे का तेवर चढ़ जाता है. 'सच' सुनना इतना आसान भी तो नहीं है. कुल मिलाकर आप एक बेहतरीन काम को ऐतिहासिक अंजाम दे रहे हैं. बधाई स्वीकारें.

सिद्धेश्वर

अवसर प्रकाशन, पोस्ट बाक्स नं. २०५,

करबिगहिया, पटना-८०००१.

▶▶ अंक ११८ मिला. आभार. गुणवत्तापूर्ण कहानियों में 'रंगों का पटाक्षेप' उत्कृष्ट रचना है. वंदना दी को साधुवाद. संवेदनशील रचना मन को छूती भर ही नहीं, हिला ही देती है. 'यह मेरी ज़िम्मेदारी है....', 'जो होना होता है वह तो होता ही है...' जीवन दर्शन भी है एवं दुःख झेलने, महसूस करने-बांटने की कई शिक्षाएं यह रचना दे जाती है.

भौतिकवादी युग में पारिजात जैसे अच्छे सहृदय पड़ोसी मिलना एक सुखद अनुभूति है. शुभदा दीदी को पारिजात से परिचय करवाने हेतु बधाई. 'चाय की बिक्री' सत्य हो सकती है पर ऐसी रचना समाज को ग़लत संदेश देती है. साहित्य का कर्तव्य है समाज को सदराह दिखलाये. सोलह साल की बेटी को दुकान पर लगाकर बिक्री बढ़वाना कहीं भी न्याय संगत नहीं है. कम बिक्री में भी चायवाले को संतोष करना चाहिए था.

'कुछ कही, कुछ अनकही' में कई प्रश्न भी हैं, साथ ही उत्तर भी. आपका आशावादी दृष्टिकोण सराहनीय है. 'कथाबिंब' की गुणवत्ता सराहनीय है.

दिलीप भाटिया

न्यू मार्केट, रावतभाटा-३२३३०७.

▶▶ 'कथाबिंब' का ताज़ा अंक (अप्रैल-जून २०१२) यथासमय मिल गया था. पत्रिका दिनोंदिन निखरती जा रही है. रचनाओं का स्तर भी बढ़ता जा रहा है. अंक की प्रायः हर कहानी सोदेश्य होती है. जिसका एक विशेष सामाजिक महत्व होता है. इसका कारण है आपकी चयन प्रक्रिया. आप प्रायः हर अंक में संपादकीय लिखते हैं और संकलित कहानियों पर सार्थक टिप्पणी भी रहती है. आज हिंदी का कोई संपादक ऐसा नहीं करता. 'आमने-सामने' और 'सागर-सीपी' जैसे स्तंभ प्रायः हर अंक में. ऐसा कितने संपादक करते हैं और संकलित कहानियों को वर्ष में एक बार पुरस्कृत किया जाना ये सारी विशेषताएं 'कथाबिंब' के महत्व को बहुत बढ़ा देती हैं. और यह सब आपके कारण हो रहा है. मैं आपकी संपादकीय क्षमता और सूझ-बूझ को नमन करता हूं.

वासुदेव
धर्मशीला कुटीर, अरसंडे, बोड़ेया,
जिला-रांची ८३५२४० (झारखंड)

▶▶ लगभग एक वर्ष से 'कथाबिंब' पढ़ रहा हूं. आपकी साहित्य सेवा सराहनीय है. 'कथाबिंब' के तैंतीस वर्षों की यात्रा कथा-साहित्य के लिए गौरव की बात है.

'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च अंक बहुत अच्छा लगा लेकिन मुझे 'कमलेश्वर स्मृति पुरस्कार २०११' के विषय में कहना है कि इस प्रकार की जनतांत्रिक पंचाट यदि आप बंद कर सकें तो साहित्यकारों और साहित्य का भला होगा. ये निर्णय देखकर लगा कि जिस तरह से इस देश में प्रजातंत्र चल रहा है वैसा कुछ साहित्य में भी हो रहा है. मैं आपको याद दिलाता हूं कि टी.वी पर संगीत-संग्राम कार्यक्रम में जनतांत्रिक निर्णय के तहत प्रतियोगियों की एक ही फैमिली ने बयासी हज़ार के एस. एम. एस. कर डाले थे.

मैं क्या कोई भी सही दिलो-दिमाग़ का व्यक्ति कहानियों को पढ़कर आकलन कर सकता है कि 'कमलेश्वर स्मृति पुरस्कार' २०११ के निर्णय न्यायसंगत नहीं हैं. जिन कहानियों को उत्तम श्रेणी में रखा गया है वे शैली, शिल्प, कथावस्तु आदि की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कहानियों और कहानीकारों से कहीं आगे हैं. अतः एक संवेदनशील पाठक और साहित्य-प्रेमी के नाते मैं ऐसे निर्णय को कोई मान्यता नहीं देता. इनका पुनः अवलोकन करके ही निर्णय लिया जाय तो उत्तम होगा.

ब्रजमोहन
१३०/७, श्रद्धापुरी, फेस २,
डबल स्टोरी, मेरठ कैन्ट (उ. प्र.)

▶▶ अंक अप्रैल-जून.'१२ के संपादकीय में आचार संहिता पर उठाये गये सवाल १३वें राष्ट्रपति चुनाव संदर्भ दोहा पंक्ति, 'पवन जगावत आग को, दीप ही देत बुझाय' को चरितार्थ करते हैं. सत्य तो यह है कि वर्तमान राजनीति में न्याय धर्म का कोई मापदंड नहीं रह गया है तथापि, आंखें खोलना जो संपादक की मर्यादा और धर्म होता है, आपने निर्वाह किया है. अब इस अंक की कहानियों की बात तो वंदना शुक्ल की कहानी 'रंगों का पटाक्षेप' आधुनिकतावादी शीर्षक अनुरूप आधुनिक परिवेश की कहानी है लेकिन दशा जहां तक मर्मस्पर्शी एक रोगग्रस्त बच्चे की है वहीं दिशा बोध अभिप्राय मात्र है. इस अंक में अशोक प्रजापति ने 'शिनाख़्त' में जहां व्यवस्था को चित्रित किया है, वहीं अशोक वशिष्ठ ने मुंसी ताऊ को प्रेमचंद युग के समीप लाते हुए अभी के हालात को ताज़ा किया है. वल्लरू शिवप्रसाद की 'फ़सल' चूंकि तेलुगू में अपनी पहचान बना चुकी है, इसलिए हिंदी में न बना पाये ऐसा संभव नहीं है. इस अंक की लघुकथाएं और कविताएं भी पठनीय हैं. अंत में नक्श लायलपुरी के लिए पुनः सविता बजाज जी को धन्यवाद.

डॉ. अनुज प्रभात
दीनदयाल चौक, फारबिस गंज,
अररिया-८५४३१८

▶▶ कथाबिंब ११८ (अप्रैल-जून २०१२) विलंब से मिला. कवर पृष्ठ मन को तरोताज़ा कर गया. पहली कहानी 'रंगों का पटाक्षेप' (वंदना शुक्ल) ने कई दृष्टिकोणों से प्रभावित किया. शिल्प, प्रस्तुति, संप्रेषण, कथ्य आदि ने कहानी पढ़ने को विवश किया. अमूमन ऐसी मार्मिक कहानियां कुछ व्यक्तिगत कारणवश मैं टाल जाया करता हूं. यानि अधूरी छोड़ देता हूं. किंतु 'रंगों का पटाक्षेप' ने जीवन-दर्शन को जिस सकारात्मक ढंग से पकड़ा है, आपको बधाई देने को विवश हुआ. लेखिका वंदना जी से हमारी अपेक्षाएं बढ़ गयी हैं.

आप आज के ज़माने में भी धर्मवीर भारती, कमलेश्वर एवं श्रीपत राय सरीखे संपादकों का संपादन धर्म का निर्वाह कर रहे हैं, यह और भी बड़ी बात है. रचनाओं का त्वरित निष्पादन, लेखकों/पाठकों से व्यक्तिगत संपर्क बनाये रखना, उन्हें उचित सम्मान देना, उनकी रचनाओं पर गहराई से विचार करना आदि अब के ट्रेंड से बाहर की बात है, किंतु आप इस धर्म का निर्वहन अभी भी कर रहे हैं. डॉ. राजीव श्रीवास्तव की ग़ज़लें अच्छी लगीं.

प्रशांत कुमार सिन्हा
सागर लहर, बंपास टाउन,
देवसंघ, देवघर, झारखंड-८१४११४

कहानी

एक था हीरो...

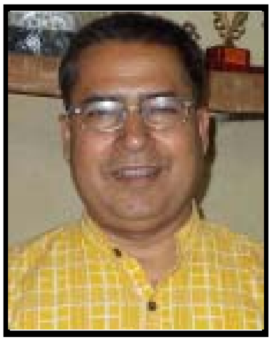

गोविंद उपाध्याय

जन्म : १५ अगस्त १९६०, कानपुर (उ. प्र.)

लेखन : *१९८० में पहली कहानी प्रकाशित. सवा सौ से ज़्यादा कहानियां देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. कुछ कहानियों का बंग्ला और उर्दू में अनुवाद.*

प्रकाशन : *तीन कहानी संग्रह प्रकाशित : 'पंखहीन', 'समय, रेत, और फूकन फूफा' और 'सोनपरी का तीसरा अध्याय.'*

संप्रति : *रक्षा प्रतिष्ठान में नौकरी.*

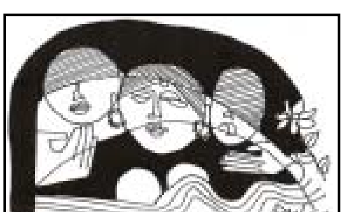

जी.वन.टी.-२५७,
अरमापुर इस्टेट,
कानपुर (उ. प्र.)-२०८००२.
मो. ९६५१६७०१०६

हम उसी चौराहे पर आज एक साल बाद मिले थे. चौराहा हाई-वे पर था. जिसकी एक सड़क इस शहर के अंदर जाती थी. उसी सड़क के किनारे दोनों तरफ़ पक्की दुकानें थीं. खाने-पीने का होटल ... देशी-विदेशी शराब की दुकानें, आटो, मोबाइल स्पेयर और रिपेयर की दुकान...और एक पेट्रोल पंप....

मेरी उसकी मुलाक़ात 'ददू ढाबे' के पास हुई थी. वह बग़ल की अंग्रेज़ी शराब की दुकान पर जा रहा था. उसकी आंख वैसे ही सुर्ख़ थी. आवाज़ का भारीपन बता रहा था कि वह नशे में है. हो सकता है ठेके से पीने के बाद थोड़ी देर के लिए बाहर निकला हो या फिर अपने ऑफ़िस में ही किसी चेले से मंगा कर पी ली हो. उसे मुझसे ढेर सारी शिकायतें थीं. वह उन शिकायतों का पिटारा खोलता तो हम दोनों आधी रात तक इसी हाई-वे पर खड़े रह जाते. इसलिए मैंने उसे बोलने का मौक़ा ही नहीं दिया - 'मैं थोड़ा जल्दी में हूं. खाने का पार्सल लेने आया था. मैं इस समय अकेला हूं. बच्चे और वाइफ़ गांव गये हैं. खाना बनाने का मन नहीं था. तू खाना खायेगा..? तो घर चल..'

उसने मेरी तरफ़ हिक़ारत से देखा - 'साले अभी कोई खाने का समय है? अभी जिसका समय है, वह तूने तो छोड़ दिया..जा..जा भाग...'

मैं कुछ नहीं बोला. अब उससे कुछ भी बोलना बेकार था. यदि थोड़ी देर और रुकता तो निःसंदेह वह पैसे की मांग करता. मैं चुपचाप ढाबे की तरफ़ बढ़ गया और वह...

☐

समय बहुत तेज़ी से भागता है. इस बात का एहसास तब होता है, जब उस भागते समय का कोई अहम पात्र एक लंबे समय बाद आपसे टकरा जाता है. वह भी कभी मेरे जीवन का एक महत्वपूर्ण पात्र था. क्या कोई विश्वास करेगा कि मैं उसे 'हीरो' कह कर बुलाता था. हां! यह सच है कि वह यानि देवेश थापा किसी वक़्त मेरा अभिन्न मित्र था. एक ऐसा आदमी जिसके स्वभाव से लेकर व्यक्तित्व तक कहीं भी हमारा मेल नहीं था. इसके बावजूद हम मित्र थे.

देवेश थापा से मेरी मुलाकात अजीब परिस्थितियों में हुई.

दसवीं की परीक्षा यानी बोर्ड की परीक्षा...जिसमें परीक्षा केंद्र दूसरे विद्यालय

में पड़ता था. मेरा जहां केंद्र पड़ा था, वह मेरे घर से पांच किलोमीटर दूर था. मैं साइकिल से परीक्षा देने जाता. देवेश थापा का परीक्षा केंद्र भी वहीं था. वह दूसरे विद्यालय का परीक्षार्थी था. उसकी सीट मेरे आगे थी. हमारी बातचीत हुई तो पता चला कि हम दोनों एक ही मुहल्ले में रहते हैं. वह दसवीं की परीक्षा दूसरी बार दे रहा था. देवेश ने बिना किसी संकोच के बताया था, ''यार पिछली बार गणित और अंग्रेज़ी में लुढ़क गया था. यह दोनों विषय मेरे भेजे में नहीं घुसते हैं. इस बार भी भगवान भरोसे ही दे रहा हूं. अब सब उन्हीं की कृपा पर निर्भर है.''

वह बहुत भोला था. उसका व्यक्तित्व आकर्षक था. पांच फुट सात इंच का गोरा चिट्टा, कसरती बदन का नौजवान था. मैं उससे प्रभावित था. उसके बाल भूरे थे. वह मूंछ और दाढ़ी सफ़ाचट रखता था. ठीक इसके विपरीत मैं दुबला-पतला सांवले रंग का कमज़ोर सा लड़का था. जिसके चेहरे पर अभी दाढ़ी-मूंछ की पहली फ़सल तैयार हो रही थी. मैं बहुत मुश्किल से उसके कंधे तक पहुंच पाता था.

तीसरे पेपर के बाद हम साथ-साथ ही परीक्षा देने जाने लगे. वह चौराहे पर बड़े बिंदास ढंग से सिगरेट के धुएं के छल्ले बनाता मेरा इंतज़ार करता और जैसे ही मैं उसके पास पहुंचता वह उछल कर अपनी साइकिल की गद्दी पर बैठ जाता और हम दोनों सेंटर तक साथ जाते. परीक्षा समाप्त हो गयी. पर देवेश थापा से मेरी निकटता बढ़ती गयी.

वह मुझसे उम्र में तीन साल बड़ा था. बहुत सलीक़े से रहता था और बड़े स्टाइल से सिगरेट पीता था. बिल्कुल सिनेमा के 'हीरो' जैसा. मैं तब उससे प्रभावित था. और मैंने उसका नया नामकरण ही 'हीरो' कर दिया. उसे अपने इस नये नाम पर कोई ऐतराज़ नहीं था. बल्कि जब मैंने उसे पहली बार इस नाम से पुकारा तो वह खिलखिला कर हंस दिया था — ''यार तुम भी...सुबह से मज़ाक़ के लिए मैं ही मिला था.'' पर वह नाराज़ नहीं था.

यह १९७६ की बात है. तब स्थानीय अख़बार में परीक्षा फल घोषित होता था. जून का दूसरा सप्ताह था. उस दिन रिज़ल्ट आने वाला था. हम दोनों रोज़ की भांति चौराहे की चाय की दुकान पर मिले. वह उसी बेफ़िक्री से धुएं के छल्ले बना रहा था. मुझे घबराहट थी. फ़ेल होने की नहीं ...बल्कि अच्छे डिवीज़न से पास होने की. रिज़ल्ट शाम तक आना था. वह मुझे सांत्वना देता रहा — ''बेकार परेशान हो रहे हो. जो होना है वही होगा. तुम्हारे परेशान होने से तुम्हारे नंबर थोड़े ही बढ़ जायेंगे. तुम अपनी इसी आदत के कारण सुखट्टे हो गये हो. फूंक दो तो उड़ जाओ. मस्त रहा कर यार...''

मुझे पहली बार उस पर ग़ुस्सा आया था. पर मैं किसी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रगट नहीं कर सका.

शाम को वह मेरे घर आया था. अभी मेरे क़स्बे में अख़बार नहीं पहुंचा था. उसके हाथ में अख़बार था और उसने आते ही घोषणा कर दी — तू प्रथम श्रेणी में पास हो गया है और अख़बार खोल कर मेरा रोल नंबर दिखाने लगा. उसने मेरे रोल नंबर को नीले पेन से घेर रखा था. परीक्षा परिणाम मेरे सोच के अनुरूप था. अचानक मुझे उसके परीक्षा फल की याद आयी — ''देवेश तुम्हारा...''

वह हंस दिया — ''यार मुझे तो पहले से ही पता था कि मैं इस बार भी पास नहीं होने वाला हूं. वह तो तेरे लिए एजेन्सी गया था. तू सुबह बहुत परेशान लग रहा था न...''

बस उसी दिन से देवेश मेरा पक्का दोस्त हो गया. हमारी जोड़ी बेमेल थी. वह पढ़ाई छोड़कर हर चीज़ में आगे था. सुबह व्यायामशाला जाता. फिर घर के तमाम फुटकर काम उसके ज़िम्मे ही थे. वह तीन भाई और दो बहनों में तीसरे नंबर का था. एक भाई और एक बहन उससे बड़े थे. उसके पिता एक सरकारी कारख़ाने में अधिकारी थे. बाद में पता चला वह उसी विभाग के अधिकारी हैं, जहां मेरे पिता कामगार थे. उसका घर अधिकारी आवास में था. मैं आधा किलोमीटर दूर एक मज़दूर कॉलोनी में रहता था.

वह बार-बार मुझे अपने घर आने का आग्रह करता. मैं जब एक बार उसके घर गया तो हतप्रभ रह गया. वह एक आलीशान कोठी थी. सबसे पहले उसके पिता से मेरी मुठभेड़ हुई. वह बहुत रौबीले थे. लेकिन जब उन्हें यह पता चला कि मैं ग्यारहवीं में पढ़ता हूं और दसवीं प्रथम श्रेणी में पास किया हूं तो उनके चेहरे पर मेरे लिए एक अजीब सी कोमलता तैर गयी — ''बेटा अपने साथी को भी समझाओ. थोड़ी मेहनत करे. शिक्षा के बिना यह जीवन बहुत कठिन है. जाओ देखो उस कमरे में बैठा होगा.''

मैंने कमरे का पर्दा हटाया तो वह पीछे ही खड़ा था. वह मेरी तरफ़ देख कर मुस्कराया — ''बच गये बेटा...

मेरा हिटलर बाप बहुत देर तक क्लास लेता है. मुझे पहले बताया होता तो मैं तुम्हें अपने साथ लाया होता. मेरे साथ देखकर वह कुछ नहीं बोलता.''

देवेश और उसके पिता में छत्तीस का आंकड़ा था. उनके बीच संवाद तक नहीं था. उसका बड़ा भाई मुंबई में इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहा था. बाक़ी भाई-बहनों पर उसका काफ़ी रौब था. मां सीधी-सरल गृहणी थी. उस घर में देवेश यदि किसी से घबराता था तो वह पिता से. पिता उसके भविष्य को लेकर चिंतित थे. उन्हें मालूम था कि उनका बेटा पढ़ने में कमज़ोर है. वह सिगरेट पीता है और दिन भर आवारागर्दी करता है.

शुरू में मुझे भी उनसे डर लगता था. लेकिन बाद में वह मुझे जहां भी मिलते बहुत प्यार से बात करते — ''पढ़ाई कैसी चल रही है. तुम्हारे दोस्त का क्या हाल-चाल है. दसवीं पास करेगा या एम. एफ. (मैट्रिक फ़ेल) का ठप्पा लगाये सिगरेट फूंकता रहेगा?''

देवेश ने चौथे साल दसवीं पास की. तब मेरा स्नातक का दूसरा साल था. मैंने दाढ़ी रख ली थी. सिगरेट तो नहीं पीता था. हां! शराब की चुस्की ज़रूर एक दो बार ले चुका था.

उस दिन मैं घर पर अकेला था. शाम का समय था. मन में एक अजीब सी उदासी थी. स्नातक की पढ़ाई समाप्त होने वाली थी. इसके बाद क्या करना है? एक बड़ा सा प्रश्नवाचक चिन्ह मेरी तरफ़ हमेशा घूरता रहता. भविष्य की चिंता मुझे उन दिनों डिप्रेस करती. पिता चाहते थे कि मेरी जल्दी नौकरी लगे और मैं घर की ज़िम्मेदारियों में उनका साथ दूं. मेरे सामने कोई विकल्प नहीं नज़र आ रहा था. देवेश जब मेरे पास आया तो मैं अंधेरे कमरे में बैठा हताशा की नाव में हिचकोले खा रहा था.

''क्या यार तुम नहीं सुधरोगे. अबे सोचो ....ख़ूब सोचो ....पर बत्ती तो जला लेते. मनहूसियत से मुक्त हो मेरे भाई ...पढ़ाई पर ध्यान लगा ...वो क्या गाते हैं — ''हम होंगे कामयाब एक दिन...'' देवेश ने कमरे का स्विच ऑन किया और खिलखिला कर हंस दिया. कमरे में पसरी उदासी सहम कर किसी कोने में दुबक गयी.

वह चारपाई पर मेरी बग़ल में बैठ गया था — ''उठ जा मेरे शेर ...आज तू भी अकेला है. चल कहीं मज़े करते हैं.''

वह हमेशा ऐसे ही बात करता. उसे मैंने कभी चिंतित नहीं देखा था. वह रोज़ नियम से शेविंग करता. अपने बालों को सलीक़े से काढ़ता और निराशा को कभी अपने पास फटकने नहीं देता.

मैं उसकी साइकिल के आगे के फ़्रेम पर बैठा था. वह साइकिल हमेशा ख़ुद चलाता. हम दोनों चार किलो मीटर दूर चौक तक ऐसे ही जाते. थोड़ा मार्केट का नज़ारा लेते...फिर 'ठाकुर चाट वाले' की चाट का मज़ा लेते और वापस घर लौट आते. पर उस दिन ऐसा नहीं हुआ था. वह मुझे अंग्रेज़ी वाइन शॉप के बगल में चल रहे ढाबे में ले गया. शराब की एक हाफ़ बॉटल लाया — ''यार आज हम लोग मदिरा का लुत्फ़ लेंगे. देखो ज़्यादा हुज्जत न करना. यदि मन हो तो पीना. न मन हो तो मुझे पीते देखना.''

उसने तली हुई मछलियों का ऑर्डर दिया. ढाबे वाला लड़का कटे हुए प्याज़ और मूंगफली के दानों से भरी कटोरियां रख कर चला गया था. उसने गिलास में शराब डालने के पहले मुझसे इशारे में मेरी इच्छा जाननी चाही और कोई प्रतिक्रिया न पाकर कर मौन स्वीकृति मानते हुए मेरा गिलास भी तैयार कर दिया. मैं पहली बार शराब पी रहा था. ढाबे के इस कमरे में सात-आठ मेज़ें थीं. सभी पर पियक्कड़ जमे हुए थे. शराब और धुएं की मिलीजुली गंध ने वातावरण को काफ़ी रहस्यमय बना दिया था.

सामने की मेज़ पर बैठा आदमी ज़्यादा नशे में लग रहा था. वह अपने साथी से बोल रहा था — ''मैं पैसे की चिंता नहीं करता. पैसा तो हाथ का मैल है. तुम बेकार परेशान हो, दो-चार लाख तो मैं चुटकी बजाकर इकट्ठा कर दूंगा.'' वह लाल चेक की एक गंदी सी क़मीज़ पहने था. जिसका कॉलर उधड़ा हुआ था.

मुझे हंसी आ गयी. देवेश ने टोका — ''हंसो नहीं यहां सभी लखपति-करोड़पति हैं. यह लाल पानी साली चीज़ ही ऐसी है कि कुछ देर के लिए ही सही रंक को भी राजा बना देती है.'

उस रात मैं राजा तो नहीं बना. हां! देवेश के पिता की नज़रों में मेरा जो सम्मान था वह ज़रूर कम हो गया.

उस ढाबे में उनके विभाग के किसी आदमी ने हम दोनों को देख लिया था और उसने इसकी सूचना उन्हें दे दी थी. दो दिन बाद जब मुझसे मिले, पहली बार बहुत बेरुख़ी और व्यंगात्मक ढंग से बोले. शायद उनके विश्वास को ठेस

लगी थी. — ''बधाई हो! आख़िर तुम भी उसके रंग में रंग गये. यदि तुम लोगों को पीना है तो इतना बड़ा बंगला है. घर में अच्छी से अच्छी शराब की बोतलें हैं. पीयो यार...क्या ज़रूरत है एक घटिया से ढाबे में बैठकर सार्वजनिक रूप से .... ख़ैर छोड़ो अपने दोस्त को समझाओ, अपनी इन हरकतों से मुझे तकलीफ़ देने की कोशिश न करे.''

मुझे उनकी बातों से शर्मिंदगी महसूस हुई. साथ ही डर भी लग रहा था कि यह बात पिताजी तक न पहुंच जाये. उन्हें बहुत आघात लगेगा. पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ. मैं लंबे समय तक देवेश के घर नहीं गया. हमारी मुलाक़ात उसी पान की गुमटी पर होती जहां से वह सिगरेट ख़रीदता और उसका उधार खाता चलता था.

उन दिनों मैं एक लड़की से प्यार कर बैठा था. वैसे वह प्यार एक तरफ़ा था. लड़की की तरफ़ से किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं था. या फिर वह जानबूझ कर अनजान बनी हुई थी. मेरी दीवानगी इस हद तक बढ़ गयी थी कि मैं उसके कॉलेज आने और जाने के रास्ते पर पलकें बिछाये खड़ा रहता. कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे चलता और फिर सारी रात ठंडी-ठंडी आहें भरता. लड़की थी कि मेरी तरफ़ कभी नज़र उठाकर देखती ही नहीं. यह सिलसिला लगभग तीन महीना चला. देवेश को मैं रोज़ की घटना सुनाता. वह चुपचाप धुंआ उड़ाता सुनता रहता. उसे इसमें कोई रुचि नहीं थी. फिर अचानक एक दिन भड़क गया — ''अबे साले पिलपिले एक ही बात अभी और कितने दिन झिलायेगा. लड़की को प्रेम पत्र लिख ....उससे प्रेम का इज़हार कर. मामला जमता है तो ठीक. नहीं जमता है ..दूसरा घर देख.''

उसकी बात में दम था. पर मैं उसे कैसे समझाता कि मेरा प्यार रूहानी है और वह इसे जिस्मानी समझ रहा है. वह मेरे दिल में समायी हुई है. उसे देखते ही मेरे दिल की धड़कन बढ़ जाती है और मुझ पर एक अजीब सा नशा छा जाता है.

पर यह नशा जल्द ही टूट गया. जब मैंने देवेश के दबाव में आकर उसे प्रेम पत्र लिखा और वह दांत पीस कर बोली — ''अब तुम हद से आगे बढ़ रहे हो. बिना पिटे तुम नहीं मानोगे.''

यह मेरे लिए बड़ा झटका था. जब देवेश को पूरी घटना का पता चला तो वह खिलखिला कर हंस दिया — ''चलो अब इस किस्से से मुक्ति मिलेगी. वैसे भी ज़्यादा ज़ोर लगाने की ज़रूरत नहीं है. उसका एक भाई सब–इंसपेक्टर है. तुम उसे झेल नहीं पाओगे.''

उसकी बात सच थी. मुहब्बत का मेरा भूत तत्काल उतर चुका था. कई रात मुझे ठीक से नींद नहीं आयी. अब उसके सब-इंसपेक्टर भाई की छवि आंखों के सामने डोलती रहती. कहीं उसने अपने भाई से बता दिया तो..?

मेरा ग्रेजुएशन समाप्त हो चुका था. पिता ने आगे पढ़ाने से मना कर दिया. जब तक कोई नौकरी नहीं मिल पा रही थी, मैं होम ट्यूशन देने लगा. थोड़े दिनों में ही मेरी कमाई ठीक-ठाक होने लगी. पान की गुमटी वाले का उधार खाता इतना बढ़ गया था कि उसने देवेश को सिगरेट देना बंद कर दिया था. अब वह बीड़ी पीने लगा था. हां! उसके रहन-सहन में अभी भी वही 'हीरो' वाला ठाठ था. जब-तब वह मुझसे भी पैसे मांग लेता था. मेरे पैसे पर उसका अधिकार था और उसमें वापसी का कोई विकल्प भी नहीं था. पान वाले का उधार भी धीरे-धीरे मैंने ही चुकता किया. पान वाला अपमानित करने लगा था जो मेरी सहनशीलता की सीमा के पार हो गया था. अतः मैंने थोड़ा-थोड़ा पैसा देकर उसका बक़ाया ख़त्म कर दिया.

देवेश के पिता प्रभावशाली थे. इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि देवेश जैसे हाई स्कूल थर्ड डिवीज़न पास बेटे को उनके ही कारख़ाने में क्लर्क की नौकरी मिल गयी. जबकि प्रथम श्रेणी के स्नातक की डिग्री लिये मैं दो साल से नौकरी के लिए भटक रहा था. मुझे पहली बार देवेश से ईर्ष्या हुई. अब उसके पास एक सम्मानित सरकारी नौकरी थी. भले मैं उससे ज़्यादा पैसे कमा रहा था, पर था तो होम-ट्यूटर ही ...एक पढ़ा-लिखा बेरोज़गार...

समय धीरे-धीरे सरक रहा था. कुछ समय बाद मुझे भी सफलता मिल गयी. बैंक में प्रोबेशनरी ऑफ़िसर की नियुक्ति मिल गयी. मेरी पहली नियुक्ति अपने शहर में ही थी. लेकिन इस नौकरी के साथ ही धीरे-धीरे हमारा मिलना कम होता गया. अब हम साप्ताहांत की छुट्टियों में मिलते. घूमते और खाते-पीते अब हमें कोई रोकने-टोकने वाला नहीं था. समय का पहिया थोड़ा और घूमा, मेरा विवाह हो गया ...कुछ दिनों बाद वह भी... हम पिता भी बन गये.

फिर अचानक मेरा ट्रांसफ़र दूसरे शहर में हो गया. उन दिनों मोबाइल और ई-मेल जैसी सुविधा तो थी नहीं.

हम एक दूसरे से दूर होते चले गये. उसके पिता सेवानिवृत्ति से पूर्व ही एक अच्छी जगह पर सुंदर सा मकान बना चुके थे. जहां उसको भी दो कमरे मिले थे. वह एक पॉश इलाक़ा था. उसके अन्य भाई अच्छे पदों पर थे. उनकी आमदनी भी अच्छी थी. देवेश अब परेशान रहता था. पिता की मृत्यु के बाद वह और उपेक्षित हो गया था. वह अब हीरो जैसा नहीं था. उसके कपड़े प्रेस नहीं होते. कई-कई दिन तक दाढ़ी नहीं बनाता. शराब की गंध सदैव उसकी सांस में बसी रहती. उसके इस स्वभाव के कारण सामूहिक परिवार से अलग कर दिया गया था. वह एक तरह से अपने उन दो कमरों में बीबी बच्चों के साथ क़ैद सा हो कर रह गया था.

''क्या बताऊं यार ...मेरा बाप सही कहता था. एक दिन मैं अपनी करनी पर पछताऊंगा ... आज मेरी हालत उस घर में कीड़े-मकोड़े जैसी हो गयी है. मन तो करता है कि इस घर को छोड़ कर सरकारी क्वार्टर में शिफ़्ट हो जाऊं. मगर आर्थिक मज़बूरियां आड़े आ जाती हैं. फिर बाप की प्रॉपर्टी है. भाई तो साले यही चाहते हैं...मैं हटूं और वह अपना क़ब्ज़ा जमायें. साला कुछ समझ नहीं आता है. बीबी अलग डंडा करती है — तुम तो घर से चले जाते हो और इन लोगों के ताने मुझे झेलने पड़ते है.'' उसकी बातों में गहरी निराशा थी.

मैं उसकी क्या मदद कर सकता था. बस इतना ही कहा — ''सब ठीक हो जायेगा. बस तू यह पीना कम कर दे. अपने इस हालात का काफ़ी हद तक तो तू स्वयं ज़िम्मेदार है.''

शायद उसको मेरी बात बुरी लगी होगी. तभी वह खीझ गया — ''हां! तू ठीक कहता है. इस दुनिया का सबसे बड़ा कमीना आदमी मैं हूं. सब साले हमीं पर लेक्चर झाड़ते हैं. मां, बीबी, भाई-बहन....और यहां तक कि तू भी ... मेरे जैसे आदमी को जीने का कोई हक़ नहीं है. मुझे तो गोली मार देनी चाहिए.''

मेरे पास कोई जवाब नहीं था. हम एक लंबे समय तक नहीं मिले. अचानक एक दिन सूचना मिली कि उसकी पत्नी ने आत्महत्या कर ली. उसका बेटा तब आठवीं में पढ़ता था. उससे दो साल छोटी बेटी थी. इस बार जब हम मिले तो वह इतने नशे में था कि उससे कोई बात नहीं की जा सकती थी. बस इतना पता चला कि बच्चे ननिहाल में पल रहे थे. वह मुझे पीने का आग्रह कर रहा था. जब मैंने मना कर दिया तो वह मुझसे दो सौ रुपये मांगने लगा. मैंने सौ रुपये देकर उससे पीछा छुड़ाया.

उसके बाद वह जब मिलता मुझसे पैसे की मांग करता. पता चला वह एक लंबे समय तक नौकरी से सस्पेंड रहा था. उसके ऊपर तमाम कर्ज़े थे और अब उसका एक ही उसूल था — ''ऐसा कोई सगा नहीं, जिसको मैंने ठगा नहीं.''

धीरे-धीरे वह मुझसे भी चार-पांच हज़ार तो ले ही चुका था. एक समय था जब मैं उसका बेसब्री से इंतज़ार करता था और आज मैं जब उसे देखता हूं तो एक अजीब सी उलझन में घिर जाता हूं...मुझे समझ नहीं आता कि उसका भविष्य क्या होगा, जबकि वर्तमान ही इतना दयनीय हो चुका है. मैं अब देवेश के बारे में कुछ भी नहीं सोचना चाहता. वह मेरे अतीत का ऐसा पन्ना है कि जब भी उसे खोलता हूं....मन उदास हो जाता है.

❖❖❖

ग़ज़ल

✍ युसुफ ख़ान 'साहिल'

लबों से मेरे बस यही दुआ निकले,
इन ज़ख़्मों से मरहम सी दवा निकले ।

यादों की सुलगती चिंगारियों से,
वक़्त बे वक़्त जैसे धुआं निकले ।

तन्हा है तन्हाइयों की गलियों में,
लबों से हरदम तेरी सदा निकले ।

टूटता है तन का रेज़ा रेज़ा अब,
जाने कब इन सांसों की हवा निकले ।

आयेगी अज़ल तो कह दूंगा 'साहिल',
तेरी आग़ोश में मेरी जां निकले ।

मस्जिद के पास, वार्ड नं. २६,
नोहर-३३५५२३ (राज.)
मो. ९९५०६५०१८६

कविता

वह अजीब तमाशबीन है!

जितेंद्र जितांशु

खेत बेचकर दो बीघा फ़्लैट बुक किया
सपने फिर भी पूरे नहीं हुए.
भीड़ भरी आठ-दस की लोकल में
रहता है अकेला.
सामने पियानो की तरह
प्यार के की-पैड पर
एसएमएस का संगीत रचता युवा,
हर तीसरी गली की ओर मुड़ने को आतुर
साइकिल से दो घंटे चलकर
पहुंचा है आम के पेड़ के नीचे,
बस आयेगी ले जायेगी
स्टेशन, मेल से लोकल स्लो से फास्ट
दो बीघा ही बचा है इस बार
ईश्वर साक्षी है
लड़कियों से नहीं चलता वंश
फ़्लैट में टाइल्स लग गयी हैं.
बेटा कर रहा है एमबीए
उसे अच्छी लगने लगी है काली लड़की
वह भी खोज रहा है शांति/सुख/ईएमआई से मुक्ति
वह अजीब तमाशबीन है!

एच-५, गवर्नमेंट क्वार्टर्स, बज बज,
कोलकाता-७००१३७. मो.:९२३१८४५२८९

ग़ज़ल

डॉ. अशोक 'गुलशन'

कभी बैठकर कभी लेटकर चल कर रोये बाबू जी,
घर की छत पर बैठ किनारे जमकर रोये बाबू जी।
अपनों का व्यवहार बुढ़ापे में ग़ैरों सा लगता है,
इसी बात को मन ही मन में कह कर रोये बाबू जी।
बहुत दिनों के बाद शहर से जब बेटा घर को आया,
उसे देख कर ख़ुश हो करके हंस कर रोये बाबू जी।
नाती-पोते, बीबी-बच्चे जब-जब उनसे दूर हुए,
अश्कों के गहरे सागर में बहकर रोये बाबू जी।
जीवन भर की करम-कमाई जब उनकी बेकार हुई,
पछतावे की ज्वाला में तब दहकर रोये बाबू जी।
शक्तिहीन जब हुए और जब अपनों ने ठुकराया तो,
पीड़ा और घुटन को तब-तब सहकर रोये बाबू जी।
हरदम हंसते रहते थे वो किंतु कभी जब रोये तो,
सबसे अपनी आंख बचाकर छुपकर रोये बाबू जी।
तन्हाई में 'गुलशन', की जब याद बहुत ही आयी तो,
याद-याद में रोते-रोते थक कर रोये बाबू जी।

उत्तरी कानूनगोपुरा,
बहराइच (उ. प्र.)–२७१८०१.
मो.-९४५०४२७०१९

डॉ. दीप बिलासपुरी

वो लोग ज़माने में देखे थे ख़ास मगर जो आम रहे ।
मारूफ़ हुए जिस रोज़ मरे ताऊम्र मगर बेनाम रहे ।।
दो-अश्क दिखाकर बन बैठा मक्कार चहेता दुनिया का ।
सौ-अश्क बहाकर भी हम तो बदनाम रहे, गुमनाम रहे ।।
दामन ही नहीं छोड़ा उसकी यादों ने दिले-रंजीदा का ।
सौ-बार भुलाना था चाहा हर-बार मगर नाकाम रहे ।।
मज्लिस में हमें बुलवाकर के दिलबर ने ज़लीलो ख़्वार किया ।
प्याला न मिला हमको लेकिन हाथों में सभी के जाम रहे ।।
तू लाख बुरा कर ले मुझसे मैं 'दीप' कहूंगा बस इतना ।
करते थे बशर जो काम बुरे उन सबके बुरे अंजाम रहे ।।

ग्रोवर क्लीनिक, बिलासपुर (हरि.)-१३५१०२. फो.:- ०१७३५-३२४२८७

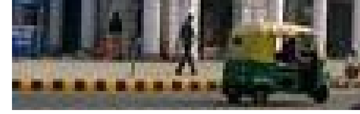

कहानी

दुनिया में....

✍ गजेंद्र रावत

विज्ञान स्नातक

प्रकाशन : *हिंदी की पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशन 'बारिश, ठंड और वह' कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य.*

संप्रति : *स्वतंत्र लेखन*

डब्ल्यू पी - ३ ३ सी,
पीलमपुरा, दिल्ली-११००३४
मो. ९९७१०१७१३६.

वह देर तक गैलरी की किनारियों से बंधे तार पर आपस में गुथे गीले कपड़ों को सुलझा-सुलझाकर सुखाने डालती रही. आख़िरी कपड़े को झटककर तार में डालते हुए घूमकर उसने दोनों हथेलियों को रगड़कर बग़लों में दबा लिया और ऊपर आकाश की ओर देखती हुई बड़बड़ायी, ''बेकार ही इतनी मेहनत की! धूप तो देखने भर को नहीं है...''

कुछ देर चुप रह कर मुंह से सी-सी की ध्वनि करती हुई वो फिर फुसफुसायी, ''कैसी ठंडी हवा है!.... ज़रूर कहीं बर्फ पड़ी है!'' उसने वहीं खड़े होकर फिर आकाश की ओर देखा—घने काले बादल आसमान के चिकने फ़र्श पर तेज़ी से फिसल रहे थे. उसने गर्दन झुका ली. लंबे डग भरते हुए भीतर आ गयी. दरवाज़े को ढकेलते हुए कमरे के बीचों-बीच पहुंची और एक दीर्घ श्वास खींचकर धम्म से सोफ़े पर बैठ गयी. पल भर आंखें मूंद उसने गर्दन को सोफ़े की पीठ पर ढीला छोड़ दिया. ओ-फ़्फ़ो की ध्वनि उसके गुलाबी होठों पर हवा के बुलबुलों-सी उठ गयी. उसने जल्दी ही ढीले शरीर को सिकोड़ बाज़ुओं को वक्ष तक समेट लिया.

.... अब कोई काम-धाम नहीं. सुबह से यह टाइम हो गया है... अब तो एक प्याली कड़क चाय, पढ़ने को धांसू कहानी और रज़ाई बस! वो फुसफुसायी, उठकर खड़ी हुई और उसी तरह सिकुड़ी-सिमटी किचन में घुस गयी.

.... क्या मज़ा आ जाये... अगर कोई चाय रज़ाई में दे दे. उसने पलभर को सोचा फिर गैस पर चाय का पानी चढ़ा दिया.

वह चाय की प्याली, पत्रिका और मोबाइल लेकर भीतर के कमरे में रज़ाई में घुस गयी. वह सिरहाने से पीठ लगाकर बैठी थी. उसके एक हाथ में चाय की प्याली थी, दूसरे हाथ से वो पत्रिका के पन्ने उलट रही थी... आजकल ढंग की कोई कहानी भी तो नहीं होती. उसने सोचा और पत्रिका पलटना छोड़ एक पन्ने पर स्थिर हो गयी. अभी चार पांच पंक्तियां ही पढ़ी होंगी कि बिस्तर पर रखा मोबाइल बजने लगा.

''बैठने मत देना घड़ी भर को!'' वो बुदबुदायी, मोबाइल देखकर कान से लगाती हुई बोली, ''हां, मां?''

''आभा, तू कहां रहती है? न फ़ोन, न कोई ख़बर?''

''मां.....''

''बेटे आकर मिल जा! कितने दिन हो गये, बहुत दिल कर रहा है!.... हां आज मेरा ऑफ़ है.''

''हूं.'' वो चुप सुनती जा रही थी.

''बेटे कब-कब होते हैं मेरे ऑफ़! तुझे जरा भी याद नहीं आती! धत, कितनी मतलबी हो गयी है तू.''

''मतलबी! मतलबी की बात नहीं है मां.... बस क्या बताऊं चकरघिन्नी-सी बनी रहती हूं, सुबह उठते ही... विक्की को स्कूल के लिए तैयार करो, फिर इनको नाश्ता करवाओ, लंच पैक करो... ऑफ़िस भेजो... यूं ही दस बज जाते हैं.... ऊपर से हफ़्ते भर से कामवाली नहीं आ रही.... सारे घर की सफ़ाई, कपड़े, बर्तन, क्या-क्या नहीं करना पड़ रहा....''

''अब तक तो निबट गया होगा सारा काम? अब तो ख़ाली हो गयी होगी? विक्की को भेज दिया क्या?'' सवालों की झड़ी-सी लग गयी.

''हां, हां वो तो कब का गया....''

''फिर क्या प्रॉब्लम है?'' मां की आवाज़ तल्ख़ थी.

''वैसे तो तीन-चार घंटे हैं विक्की को स्कूल से आने में.... पर मम्मी इतनी ठंड में!'' वो अनमनी सी बोल रही थी.

''आजा बेटी, कपड़े ठीक-ठाक पहन ले और क्या.... आजा चल.''

''मां, बड़ी मुश्किल है इतनी दूर, जमुना पार! मैं नहीं आ सकती. दो घंटे तो आने में ही लगते हैं, ऐसा क्या दरवाज़ा छूकर आना है?'' इतना कहकर आभा थोड़ी देर चुप हो गयी.... कितना तरसती है मिलने को बेचारी! चुप्पी के छोटे से अंतराल में उसने सोचा और फिर बोलने लगी ''मां ऐसा करते हैं तुम कनॉट-प्लेस तक आ जाओ, रीगल के सामने मिल लेते हैं... यह चल जायेगा..... और हां, मोबाइल लेती आना. मैं आधे-पौने घंटे में पहुंच जाऊंगी... ठीक है न?''

''चल ठीक है, तू पहुंच.... रीगल!''

फ़ोन कट गया. आभा ने हाथ की घड़ी देखी और धीमे से फुसफुसायी, ''चलो भई, आराम हमारे नसीब में नहीं है!''

आभा सचमुच ही घंटे भर में रीगल पहुंच गयी. बहुत दिनों बाद इस तरह घर से निकलना हुआ था. सब नया-नया, बदला-बदला देख वो ऊर्जा से भर गयी. उसके पांवों में मानो पंख लग गये हों.... अकेले घूमने का मज़ा ही कुछ और है. ..... जो मर्ज़ी करो.... कोई बंधन नहीं!'' निकलना चाहिए ऐसे भी.... बेफ़िक्र, मदमस्त!

आभा लंबे डग भरती रीगल की सीढ़ियां चढ़ गयी और गलियारे में लगे फ़िल्म के पोस्टर देखने लगी परंतु जल्दी ही उसने 'धत्' की ध्वनि के साथ दूसरी ओर मुंह मोड़ लिया.... करोड़ों ख़र्च करते हैं फिर भी फ़िल्म बकवास ही बनती है... उसने सीढ़ियां उतरते हुए सोचा.

वो रीगल के ढके भाग को लांघती दांयीं ओर बाहर खुले में आ गयी. पलभर इधर-उधर नज़र दौड़ाते हुए किनारे लगी रेलिंग पर हाथ टिकाकर सड़क के पार देखने लगी.

यहां, भीतर कॉरिडोर के बनिस्बत त्वचा को ख़ुश्क कर देनेवाली ठंडी हवा चल रही थी. सूखे, कड़क पत्ते तेज़ हवा में फरफराते हुए सड़क पार के संकरे फ़ुटपाथ पर दौड़ रहे थे. वहीं दांहिनी ओर पार्क की गोलाई पर एक बड़ा-सा होर्डिंग ऊंचा उठा हुआ था. तिरछा देखने पर आभा को होर्डिंग पर एक छोटी लड़की का मुस्कराता चेहरा दिखाई दे रहा था. लेकिन उसके नीचे लिखा हुआ पढ़ा नहीं जा रहा था, पलभर उसकी इच्छा हुई कि होर्डिंग को सामने से देखे और न पढ़ी जा रही पंक्तियों को पढ़े लेकिन उसके लिए उसे उसी सिमिट्री में आगे तक जाना पड़ता. ठीक उसी समय बिल्कुल सामने रेलिंग पकड़े बैठे एक स्मैक्ची ने उसका ध्यान खींचा. स्मैक्ची उनींदा-सा, एक लय में सिर को आगे-पीछे हिला रहा था. वो चीकट-मैले कपड़ों में अध–ढका दीन-दुनिया से बेख़बर पहले सिर को रेलिंग से टकराता फिर पीछे की तरफ़ ले जाता, मानो रेलिंग उखाड़ने को ज़ोर लगा रहा हो... इसको ठंड नहीं लग रही? वो चकित होकर सोचने लगी,..... लग तो रही होगी... अभी नशे में है न! ऐसे ही तो मरते होंगे. दोनों हाथों को रगड़ते हुए उसने ठंडी झुरझुरी का अनुभव किया. ब्रॉउन लेडिस-सूट पर उसने काला ऊनी स्वेटर पहना हुआ था, गर्म शाल मफ़लर की तरह पतली सुराहीदार गर्दन के चारों और लिपटी हुई थी जैसे कि अमूमन औरतें नहीं लेतीं.

आभा ने फिर से हथेलियां रगड़ीं और गर्म हथेलियों को दोनों गालों पर हल्के से दबा लिया. गालों का ठंडा

बर्फीला अहसास हथेलियों में उतर आया. हथेलियों की गर्मी गालों में समा गयी. उसने गालों की हथेलियों से थामे-थामे अपना चेहरा रीगल बिल्डिंग की तरफ़ मोड़ लिया और कमर रेलिंग पर टिका दी.

वहां क्रम से सटे शो-रूमों, रेस्तरां के पारदर्शी दरवाज़ों से भीतर की गतिविधियां साफ़ दिखाई दे रही थीं. ठीक सामने के शो-रूम में एसक्लेटर की सीढ़ियां ऊपर सरकती दिखाई दे रही थीं. सामने गुज़रते हुजूम से इक्का-दुक्का लोग अलग होकर ऊपर की ओर उठती सीढ़ियों पर सवार हो जाते.

रेलिंग के साथ-साथ ही कुछ दूरी पर खिचड़ी बालों वाला व्यक्ति पंजों के बल बैठा-बैठा झाड़न से पत्रिकाओं को साफ़ कर आगे बिछी दरी पर इस तरह सजा रहा था जिससे पत्रिकाओं पर लिखा नाम पढ़ा जा सके. वह शायद अभी-अभी आया ही था.

आभा उद्विग्न-सी खड़ी थी. उसकी आंखें कहीं भी एक जगह नहीं टिक रही थीं. रेलिंग के साथ-साथ चलकर वह नीचे फैली पत्रिकाओं तक सरक आयी. कुछ देर बेमन से वह पत्रिकाओं पर झुकी रही लेकिन जल्दी ही ऊबकर पीछे की तरफ रेलिंग पर पहले वाली जगह पहुंच गयी.

अभी भी धूप का कहीं नामो-निशान नहीं था. आकाश के काले बादल तेज़ हवा के साथ उड़े जा रहे थे. लोगों का भीतर के पैदल रास्ते से गुज़रने का सिलसिला टूटता नज़र नहीं आ रहा था. वे टहल रहे थे, न किसी जल्दबाज़ी में, न बेचैनी में.

आभा ने इधर-उधर देखा, फिर मोबाइल मिलाकर धीमे से बोली, ''कहां हो मां?''

''पैदल चल रही हूं... ऑटो नहीं मिल रहा, शायद स्टैंड पर मिल जाये.''

''मां, अब चली हो?''

''अरे सिकाई करने बैठी थी घुटनों की.... तब कहीं जा के थोड़ा चल पा रही हूं. बड़ी टीस उठती है बेटा!''

''वो तो ठीक है, पर मां मैं तो पहुंच चुकी हूं. ये सिकाई-विकाई तो पहले ही कर लेनी चाहिए थी, ऐन वक़्त पर....बेकार में.... अच्छा जल्दी करो!'' आभा की आवाज़ में बेचैनी और झुंझलाहट थी.

''मां को भी टाइम की क़दर नहीं है.'' वो खीझ में धीमे से बड़बड़ायी.

फ़ोन को पर्स में रखती हुई उसकी नज़रें वहीं नीचे दांहिनी ओर पटरी पर लगी दुकान पर रुक गयीं. जिसने अभी-अभी क़मीज़ों का ढेर अपने आगे लगा लिया था. वह क़मीज़ों को उछालता हुआ चीख़े जा रहा था—सौ-सौ की!

चलती भीड़ से एक व्यक्ति दुकान लगते ही सामने बैठ गया और बड़ी ही तन्मयता से क़मीज़ों छांटने लगा. जल्दी ही उसने दो क़मीज़ों छांटी और बिना कुछ कहे-सुने दुकानदार को दो सौ रुपये देकर चलता बना.

आभा ने वहां से नज़रें हटा लीं और सामने आइसक्रीम पार्लर के शीशे के दरवाज़े से भीतर खड़ी विदेशी महिला को देखने लगी. वो सॉफ़्टी हाथ में थामे किसी से बात कर रही थी और बीच-बीच में जीभ से सॉफ़्टी चाट रही थी. इतनी सर्दी में आइसक्रीम? ये अंग्रेज़ काम ही उल्टे करते हैं! उसने सोचा.

जनवरी के शुरुआती दिन थे. आकाश सुबह से ही काले-सिलेटी बादलों से पटा पड़ा था. धूप सिरे से ग़ायब थी, दोपहर में भी झुटपुटे का भ्रम बना हुआ था. ठंडी बर्फ़-सी हवा हाय-तौबा मचाये हुए थी. आभा के अच्छे-ख़ासे गर्म कपड़ों के बावजूद भी कभी-कभार बदन में झुरझुरी-सी दौड़ जा रही थी... तौबा! ऐसी ठंड में मां का क्या हाल हो रहा होगा? पिंडलियां सूज गयी होंगी बेचारी की! .... फिर भी मां का दिल है कैसे भागी-भागी आ रही है.... तरसती है मिलने को! मैं ही चली जाती, ऑटो कर लेती, आना-जाना... इस बुढ़ापे में. किसे चिंता है मां की! जिसे होनी चाहिए वो तो ज़रा नहीं सोचता. भाई ने छोड़ ही दिया समझो! थोड़ा भी नहीं निभाया.... शादी होते ही बीवी को लेकर चूल्हा अलग कर लिया, मां को ऊपर के फ़्लोर पर अकेली..... सारा काम ख़ुद करना पड़ता है. वह तो अच्छा हुआ मां की नौकरी थी नहीं तो रोटी के भी लाले पड़ जाते!... लेकिन.... मां भी तो हमेशा उसी की तरफ़दारी करती थी.... लड़का है.... घर के काम लड़कियां करती हैं.... कैसे पीछे पड़ी रहती थी... जा भैय्या को खाना गर्म कर दे. कपड़ों पर प्रेस कर दे. ऊंची पढ़ाई है भाई की, उसको दूध गर्म कर दे. मैंने कैसे-कैसे रात-रात उठकर उसके लिए चाय बनायी थी. .... लो हो गयी ऊंची पढ़ाई, बन तो गया वो इंजीनियर! .... कर दिया न अलग, पटक दिया एकदम तन्हा! .... सोचते-सोचते उसने आकाश की

ओर मुंह कर लिया और फिर सोचने लगी.... मेरे कहने करने से क्या होता है, मां की जान तो अभी भी भाई पर ही अटकी हुई है... विनोद की बहू बहुत तेज़ है. पता नहीं उसका ध्यान रखती भी है या नहीं? लगता है वो दबा के रखती है विनोद को! कभी कहती है... थोड़े फल पहुंचा दूं नीचे बच्चों के लिए, उसे कहां टाइम होता है. .... सभी कुछ तो करती रहती है. त्यौहार का लेन-देन, बच्चों के कपड़े बनवा देती है. क्यों करती है ये सब? न विनोद, न भाभी कोई झांकता तक नहीं मां की तरफ़. दुःख, तकलीफ़ में भी अकेली पड़ी रहती है बेचारी! ..... सोचते-सोचते आभा ने रेलिंग के साथ ही सटे हुए एक आदमी देखा. वह भी इसकी तरफ़ देख रहा था लेकिन रंगीन चश्मे से उसकी आंखों की सही स्थिति नहीं पता लग रही थी. आभा के देखने पर वह मोबाइल पर तेज़ी से उंगलियां चलाने लगा और मुंह से सी-सी की ध्वनि निकालने लगा. वो शायद काफ़ी पहले से आभा पर नज़र रखे हुए था. सी-सी करता हुआ वह सरकने लगा, छोटे से अंतराल में ही आभा तक आ पहुंचा. बगल में हो रहे इन्हीं बदलावों के आभास मात्र से आभा ने तेज़ी से बांयीं ओर पलटकर देखा. वह व्यक्ति लगभग आभा से सटकर ही खड़ा था. आभा झटके से एक क़दम पीछे हटी, फिर ग़ुस्से, आश्चर्य और घिन से उसकी तरफ़ घूरने लगी. थोड़ी ही देर में आंखें तरेर कर रेलिंग के साथ-साथ सरकती हुई क़मीज़ों वाले दुकानदार तक पहुंच गयी. ग़ुस्से को नियंत्रित करने के मक़सद से उसने रेलिंग को कस कर पकड़ लिया.... दिल तो करता है कमीने के मारूं थप्पड़. उसने सोचा और मुंह बनाकर नज़रें फेर लीं. अब वो नीचे फैली क़मीज़ों को देख रही थी. उसकी आंखें ठिठक गयीं. वो दंग रह गयी — जो व्यक्ति पहले-पहल कमीज़ें लेकर गया था वही फिर कमीज़ें छांटने में व्यस्त था. इस बार कुछ और लोग भी नीचे झुककर क़मीज़ें छांट रहे थे. आभा कौतुहलवश उस व्यक्ति को देखने लगी. पहली बार की तरह वह दो क़मीज़ें छांट कर दो सौ रुपये दुकानदार को थमा कर पॉलिथीन बग़ल में दबाये धीरे-धीरे जंतर-मंतर की ओर मुड़ गया. आभा हैरानी से उसे मुड़ते हुए देखती रही. नीचे घुटने मोड़े दोनों ग्राहक क़मीज़ें पसंद करने में लगे थे. दुकानदार उसी तरह क़मीज़ें दोनों हाथों से उछालता हुआ सौ-सौ रुपये की तेज़ आवाज़ लगाये जा रहा था... क्या-क्या चल रहा है इस दुनिया में? उसने सोचा और पर्स से मोबाइल निकालकर मिलाया, ''कहां हो मां?''

''बेटा जाम में फंसी हुई हूं.''

''किस जगह पर?''

''लक्ष्मी नगर.... हां लक्ष्मी नगर चौक है.''

''मां, मुझे घंटा भर हो गया है... जल्दी करो. यहां खड़ा होना भी मुश्किल है.''

''आती हूं बाबा, विक्की के लिए चॉकलेट लिये थे.''

''जल्दी आओ मां....!''

फ़ोन कट गया.

.... मां भी क्या करती है. विक्की आनेवाला होगा. उसने सोचा और एक बेचैनी और अधिक नुकीली होकर उसे भीतर से कुरेदने लगी. उसने सिर उठाकर सामने की दीवार पर देखा, रंगीन चश्मे वाला आदमी दीवार के साथ खड़ा उसकी तरफ़ देख रहा था. वह आभा के भीतर की उद्विग्नता को भांप गया था. इसीलिए उसके चेहरे पर व्यंग्य भरी मुस्कान तनी हुई थी. इस बार उसकी उंगलियों में सुलगी हुई सिगरेट लगी हुई थी.

क़मीज़ों की दुकान के आगे, नीचे बिछी मैगज़ीनों के सामने हिटलर की छोटी मूंछों वाला व्यक्ति मैगज़ीन के पन्ने पलट रहा था. परंतु उसकी टेढ़ी निगाहें आभा की गतिविधियों पर जमी हुई थीं. थोड़ी ही देर में वो मैगज़ीन नीचे रखकर क़मीज़ वाले दुकानदार के पास आ खड़ा हुआ. वह आभा से बहुत कम दूरी पर पीठ किये कमीज़ों पर झुका था. कुछ देर वह क़मीज़ों को उलटता-पलटा रहा फिर इधर-उधर देखकर धीरे से बोला, ''किसका इंतज़ार हो रहा है?'' उसका नपा-तुला स्वर आभा के कानों तक पहुंच कर ऊर्जाहीन हो गया. आभा ने बांयीं ओर देखा, वह पीठ किये हुए था. उसका चेहरा दुकानदार की तरफ़ था. दुकानदार पहले की तरह यंत्र-सा क़मीज़ें हाथ से उछाल रहा था और सौ-सौ की आवाज़ लगाये जा रहा था.

''किसका इंतज़ार हो रहा है.'' आभा के कानों में ग़ूंज रहा था... इसने क्या मुझे कहा? आभा ने चकित होकर सोचा. वो ग़ुस्से में कांपने लगी, सांसें तेज़ हो गयीं. दिल किया कि धक्का दे दूं कंबख़्त को लेकिन न कर पाने की स्थिति में उसने गर्दन दूसरी ओर कर ली.... खड़ा होना दूभर कर दिया है हरामज़ादे ने. आभा मन ही मन बोली. हिटलर-सी मूंछों वाला व्यक्ति इस भीतरी उथल-पुथल से

बेख़बर धीमे से फिर बोला, "आज हमीं से काम चला लो..... इतने बुरे तो हम भी नहीं हैं."

आभा ने स्पष्ट सुन लिया. उत्तेजना से उसकी आंखें बड़े आकार में फैल गयीं, गाल तमतमा उठे. कांपते हुए होंठ उसने दांतों से भींच लिये और एक टांग उठाकर जूता हिटलर-सी मूंछों वाले व्यक्ति के कूल्हे पर टिकाकर पूरी ताक़त से धकेल दिया. वो संभल नहीं पाया और रास्ते से पैदल गुज़र रहे लोगों की टांगों के बीच औंधे मुंह गिर पड़ा. किसी को पता भी न चल पाया कि वह व्यक्ति कैसे गिरा. सिर्फ़ सामने की दीवार से चिपका खड़ा रंगीन चश्मा पहने आदमी जो आभा पर नज़र रखे था, वही एक मात्र प्रत्यक्षदर्शी था. वो भी आभा के इस उग्र रूप को देखकर न जाने कब रास्ते से गुज़रती भीड़ में मिल गया.

उसी पल हवा और अधिक तेज़ हो गयी. जैसे एक तूफ़ान-सा आया हो! आभा की पीठ के पीछे सड़क पर एक तेज़ धमाका हुआ. धमाके का शोर इतना तेज़ था कि हर गुज़रने वाले का ध्यान जबरन उस ओर खिंच गया. आभा ने भी मुड़कर सड़क की ओर देखा. तेज़ तूफ़ान में सड़क पार का विशालकाय होर्डिंग अपनी जगह से उखड़कर तेज़ी से किसी दानव की तरह क़लाबाज़ियां खाता तेज़ कर्कश आवाज़ करता हुआ दूसरी ओर की रेलिंग पर अटक गया. उसका एक हिस्सा फटकर फड़फड़ा रहा था. होर्डिंग अब ठीक आभा की आंखों के सामने था, उस पर बनी लड़की के मुस्कराते चेहरे के नीचे लिखी पंक्ति स्पष्ट दिखाई देने लगी—"कन्या भ्रूण हत्या पाप है. फूल–सी बिटिया को दुनिया में आने दें."

आभा पलभर तक पढ़ती रही. उसके शरीर का कंपन जस का तस बना हुआ था. हिटलर-सी मूंछों वाले व्यक्ति के पैने शब्द अभी भी उसके कानों में सुई से चुभ रहे थे. होर्डिंग की पंक्ति को उसने फिर एक बार पढ़ा. फिर व्यंग्य से होठों को टेढ़ा कर बुदबुदायी, "इस दुनिया में?"

नीचे फ़ुटपाथ पर बैठे दुकानदार ने हिटलर-सी मूंछों वाले व्यक्ति के ठीक सामने गिरते ही सौ-सौ की आवाज़ लगाना छोड़ दिया. हैरानी में उसके मुंह से निकला, "अरे! ये बाऊ कैसे गिरा?"

मूंछों वाले व्यक्ति ने उठकर नीचे गिरी सभी चीज़ें इकट्ठी कीं और बिना कुछ कहे-सुने कपड़ों की धूल झाड़ता चुपचाप आगे की ओर निकल गया. दुकानदार चकित होकर उसे जाता देखता रहा.

आभा अभी भी सांसें रोके होर्डिंग की ओर देखे जा रही थी. उसने भी बारीकी से नोट किया था कि पीठ पीछे दुकानदार ने सौ-सौ की आवाज़ लगानी बंद कर दी थी. थोड़ी ही देर की चुप्पी के बाद दुकानदार ने फिर से आवाज़ लगाना शुरू किया तो वो साहस कर पलटी. सब कुछ सामान्य चल रहा था. मां सामने खड़ी बुला रही थी, "आभा!"

"मां!" वो रुआंसी-सी बोली और आगे बढ़कर मां से सटे हुए फिर बोली, "इतनी देर कर दी!"

"चल कहीं बैठते हैं." मां बोली.

आभा ने क़मीज़ों के सबसे पहले ग्राहक को तीसरी बार क़मीज़ें छांटते देखा. इस बार उसे आश्चर्य नहीं हुआ. वो मां की कमर में हाथ डाले सामने के गुज़रते रेले में शामिल हो गयी. हवा का चलना कुछ थम-सा गया था.

❖❖❖

ग़ज़ल

✍ मनाज़िर हसन 'शाहीन'

जब ख़्यालों में आ गयी रोटी,
मेरे सपने सजा गयी रोटी ।

इसके पीछे सभी हैं दीवाने,
सब को पागल बना गयी रोटी ।

जान देकर भी इसको पा न सके,
हाय, कितनों को खा गयी रोटी ।

जब उगीं नफ़रतों की तलवारें,
तब लहू में नहा गयी रोटी ।

बुझ रही थीं तमाम आशाएं,
कितने दीपक जला गयी रोटी ।

कुछ नहीं सूझता है इसके सिवा,
सारे जीवन पे छा गयी रोटी ।

ढूंढ़ते-ढूंढ़ते परीशां हूं,
किस भंवर में समा गयी रोटी ।

मिडिल स्कूल लक्ष्मीपुर,
वाया-चाकंद, जिला-गया-८०४४०४

लघुकथा

आक्रांति

डॉ. अशोक गुजराती

"क्या हुआ, इस बार भी तुम्हारी कहानी नहीं छपी...?"

"हां, शबनम इस कहानी को भी लौटा दिया गया."

"लेकिन सहल, तुम्हारी यह कहानी बहुत ही बढ़िया थी, स्तरीय भी और पठनीय भी."

"थी तो.... पर क्या कर सकते हैं..."

"इधर मैं कई प्रतिष्ठित एवं साहित्यिक पत्रिकाओं में कहानियां वगैरह पढ़ती रही हूं. लगभग पचास प्रतिशत से ऊपर मुझे बकवास ही लगती रहीं. पता नहीं संपादक ऐसे कूड़े को प्राधान्य देकर अच्छी-ख़ासी रचनाएं क्यों नहीं प्रकाशित करते...?"

"इसी को साहित्य की गुटबाज़ी और राजनीति कहा जाता है."

"जिन लेखकों का थोड़ा भी नाम हो गया है या कि उनके चाटुकार हैं, उनकी कविता-कहानी तो ये संपादक आंखें मूंदकर छापते रहते हैं. चाहे उसमें कोई दम ना हो."

"तू जरा सब्र कर शबनम, धीरे-धीरे इन संपादकों की सूची में मैं भी ऐन-केन-प्रकारेण अपनी उपस्थिति दर्ज कराके रहूंगा."

"अच्छा. फिर...?"

"फिर क्या, तब मैं आंखें ही नहीं मस्तिष्क की पलकें भी मूंदकर बेतहाशा लिखूंगा क्योंकि मेरे कूड़े-करकट की भी छपने की पूरी गारंटी रहेगी..'

बी-४०, एफ़-१, दिलशाद कॉलोनी, दिल्ली-११००९५.
मो.: ९९७१७४४१६४

: प्राप्ति-स्वीकार :

चल, आ चल ज़िंदगी (उपन्यास) : **चेतना भाटी**, एस कुमार एंड कं., दरियागंज, न. दिल्ली-११०००२. मू. २५० रु.
थोड़ी देर और ठहर (क. सं.) : **प्रबोधकुमार गोविल**, दिशा प्रकाशन, १३८/१६, त्रिनगर, दिल्ली-११००३५. मू. ३०० रु.
मादा (क. सं.) : **सुमन सारस्वत**, शिल्पायन, लेन नं.१, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२. मू. २०० रु.
ये दिन, वे दिन (क. सं.) : **उषा भटनागर**, मेधा बुक्स, एक्स-११, नवीन शाहदरा. दिल्ली-११००३२. मू. ३०० रु.
तीसरे रास्ते के मुसाफिर (क. सं.) : **डॉ. बानो सरताज**, मॉडर्न प. हाउस, दरियागंज, न. दिल्ली-११०००२. मू. ३०० रु.
प्रश्नों का प्रजातंत्र (आलेख सं.) : **कमलेश्वर**, भावना प्रकाशन, १०९-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-११००९१. मू. २५० रु.
बातें (तेजेंद्र शर्मा : साक्षात्कार) : **सं. मधु अरोड़ा**, शिवना प्रकाशन, सीहोर-४६६००१. मू. १५० रु.
यादों की लकीरें (संस्मरण) : **डॉ. रूपसिंह चंदेल**, भावना प्रकाशन, १०९-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-११००९१. मू. ३०० रु.
विक्रम-बेताल का ई-मेल संवाद (व्यंग्य) : **चेतना भाटी**, जान्हवी प्रकाशन, विवेक विहार, दिल्ली-११००९५. मू. ३०० रु.
प्रपंचतंत्रम् (व्यंग्य क. सं.) : **सुबोध सिंह शिवगीत**, प्रगतिशील प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, न. दिल्ली-११०००२. मू. २०० रु.
चंद्रसेन विराट (प्रतिनिधि ग़ज़लें) : **सं. डॉ. मधु खराटे**, विद्या प्रकाशन, सी-४४९, गुजैनी, कानपुर-२०८०२२. मू. २०० रु.
रहगुजर (ग़. सं.) : **शोभा कुक्कल**, कल्पांत प्रकाशन, बी-२ मानसरोवर पार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२. मू. १५० रु.
मेरे भीतर महक रहा है (ग़. सं.) : **मनोज अबोध**, हिंदी साहित्य निकेतन, १६, साहित्य विहार, बिजनौर (उ. प्र.) मू. १५० रु.
जय हो भ्रष्टाचार की (काव्य) : **गाफिल स्वामी**, निरुपमा प्रकाशन, ५०६/१३, शास्त्री नगर, मेरठ-२५०००४. मू. १२० रु.
प्रत्यूषा (का. सं.) : **सीताराम पांडेय**, अजय प्रकाशन, रामबाग चौरी, रमना, मुजफ्फरपुर-८४२००२. मू. १५० रु.
सौ बातों की बात (दो. सं.) : **डॉ. मनोहर अभय**, राजश्री प्रतिभा प्रकाशन, ६/४७३, सदर, मथुरा (उ. प्र.). मू. २५० रु.
बूढ़ा सूरज (हाइकू सं.) : **हरेराम समीप**, पुस्तक बैंक, ३९५, सेक्टर-८, फरीदाबाद-१२१००६. मू. १९५ रु.
शब्द चित्र (अ. भा काव्य समुच्चय) : **सं. ज. ल. राठौर**, प्रांजलि प्रकाशन, दीनदयाल नगर, सागर (म. प्र.). मू. २०० रु.
पूरब की ओर (काव्य) : **सुबोध सिंह शिवगीत**, एजुकेशनल बुक सर्विस, उत्तम नगर, न. दिल्ली-११००५९. मू. २०० रु.

कहानी

अन्ना की टोपी

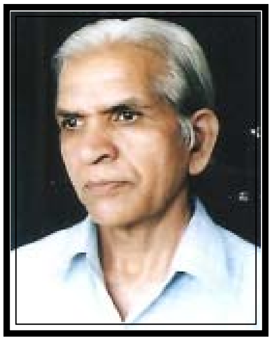

✍ *युगेश शर्मा*

४ फरवरी, १९४२ः लाखनपुर, दौसा (राज.), एम. ए., साहित्यरत्न.

प्रकाशन : *'ढ़हती दीवारें' (नाट्य कृति), ख़ुशहाली का रास्ता (लघु उपन्यास), 'चार दरवाज़ों वाला मकान' (नाटक संग्रह), 'धरती का बेटा' (गद्य कृति), 'आखिरी कड़कनाथ' (कहानी संग्रह).*

संपादन : *दैनिक 'इंदौर समाचार' के कई विशेषांकों, दर्जनों सामायिक प्रकाशनों एवं स्मारिकाओं का संपादन, शासकीय कर्मचारी-अधिकारियों की पत्रिका 'राजरथ' का शुभारंभ एवं संपादन, म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'बुंदेली के विविध आयाम' व 'चिंता और चिंतन' का संपादन एवं स्काउट-गाइड संघ की पत्रिका 'बालचर रवि' का मानसेवी संपादन (२०११से).*

प्रसारण : *लगभग तीन दर्जन नाटकों और बड़ी संख्या में शब्द चित्रों, वार्ताओं तथा फ़ीचर-आलेखों का आकाशवाणी से प्रसारण.*
नाटकों पर निर्मित ४ टेली फ़िल्मों का प्रसारण.
दूरदर्शन, भोपाल से दो नाटकों पर निर्मित फ़िल्मों का प्रसारण.

सम्मान/पुरस्कार : *अनेक सम्मानों व पुरस्कारों से सम्मानित.*

संप्रति : *कार्यकारी निदेशक, जनहित प्रकाशन.*

'व्यंकटेश कीर्ति', ११, सौम्या एन्क्लेव एक्सटेंशन, चूना भट्टी, राजा भोज मार्ग, भोपाल-४६२०१६. मो. ९४०७२७८९६५

पिछले दिनों सोया हुआ भारत पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक हुंकार भरता हुआ सा जाग उठा था. जागेगा क्यों नहीं. विश्वसनीय गांधीवादी अन्ना हज़ारे का आव्हान था. देश में जोश, जुनून और कुछ ख़ास कर गुज़रने के जज़्बे का प्रबल ज्वार सा आ गया था. देखते-देखते सारा देश अन्नामय हो उठा. युवा पीढ़ी की भावनाएं तो सड़कों पर बल्लियों उछलने लगी थीं. कहीं स्वप्रेरणा से नौजवान अन्ना हज़ारे के अनशन के समर्थन में अनशन पर डट गये थे, तो कहीं समूह बनाकर 'अन्ना हज़ारे ज़िंदाबाद' और 'भ्रष्टाचार अब नहीं सहेंगे' के नारे गुंजाते सड़कों पर निकल पड़े थे.

बुज़ुर्ग लोग यह सब देख-सुनकर अपनी स्मृतियों को ताज़ा करके सुनाया करते थे — ''भाई ऐसा नज़ारा तो महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारत छोड़ो आंदोलन के समय दिखाई दिया था. वृद्ध, प्रौढ़ और जवान जब गांधीजी के आव्हान पर निडर हो अंग्रेज़ सरकार के ख़िलाफ़ सड़कों पर निकल पड़े थे.''

भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ लड़ाई के नायक तो अन्ना हज़ारे थे, पर आंदोलन पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के विचारों का पूरा-पूरा प्रभाव दिख रहा था. अन्ना का अनशन १२ दिन चला, किंतु कहीं कोई अप्रिय घटना नहीं हुई. आंदोलन से जुड़ा हर व्यक्ति दृढ़ प्रतिज्ञ था कि वह हर हालत में अहिंसाव्रती रहेगा.

जिन व्यक्तियों ने जीवन में कभी काली, लाल, पीली और सफ़ेद किसी भी रंग-रूप की टोपी अपने सर पर धारण नहीं की और ऐसी टोपी का जिनकी नज़र में कोई ख़ास महत्व नहीं था — वे भी अन्ना की टोपी पहने शान से नारे लगाते सड़कों पर घूम रहे थे. 'मैं अन्ना हूं', शब्दावली अंकित सफ़ेद

टोपी को अपने सिर पर धारण करने वाले बच्चों, किशोरों और युवकों का जोश तो देखते ही बनता था. जैसे 'अन्ना की टोपी' क्या पहन ली, कोई बड़ी उपलब्धि हासिल कर ली. कॉलेज के छात्र-छात्राएं तो सुबह से ही टोलियां बनाकर सड़कों पर निकल पड़ते थे. तब ऐसा अहसास होता था जैसे इन नौजवानों के पास अन्ना हज़ारे के साथ खड़ा होने के अलावा दूजा कोई काम ही नहीं है. अजीब सा जोश, अजीब सा जुनून और अजीब सा संकल्प चहुंओर माहौल में रच-पच गया था.

देश में हालात कुछ ऐसे थे कि अख़बारों के तीन-चार पृष्ठ केवल अन्ना के आंदोलन की ख़बरों से ही भरे रहा करते थे. न्यूज़ चैनल वालों की तो जैसे मनचीती ही हो गयी थी. जादू-टोना, भूत-प्रेत की कहानियों से उनको जैसे मुक्ति ही मिल गयी थी. अन्ना का आंदोलन उनको इतनी सामग्री सहज ही दे रहा था कि टी. वी. के परदे उसको समेट नहीं पा रहे थे. आज़ादी के बाद यह पहला अवसर था जब एक जन आंदोलन को प्रांतों की सीमाओं को तोड़कर राष्ट्रव्यापी समर्थन मिला था.

यही कोई दोपहर का समय रहा होगा. फ़ुर्सत मिली तो मैंने मोबाइल में आये मैसेज देख लेने का मन बनाया. वैसे तो मोबाइल में कई मैसेज थे किंतु एक पर मेरी नज़र सहसा ठहर गयी. मैसेज था — 'अन्ना हज़ारे के आंदोलन के समर्थन में आज शाम सात बजे न्यू मार्केट से साहित्यकारों, पत्रकारों और अन्य बुद्धिजीवियों का मोमबत्ती जुलूस निकलेगा. कृपया शामिल होइए.' मेरे वजूद में पत्रकार और साहित्यकार दोनों सन्निहित हैं. सो, मैंने तय किया कि मैं मोमबत्ती जुलूस में अवश्य शामिल होऊंगा.

जब मैं न्यू मार्केट पहुंचा, शाम का धुंधलका पसरने लगा था. बाज़ार में तब बड़ी आवाजाही थी. तब तक सौ के आस-पास साहित्यकार वहां जमा हो चुके थे. बाद में कुछ पत्रकार और अन्य बुद्धिजीवी भी पहुंच गये. कुछ लोगों ने नारों की तख़्तियां थाम रखी थीं, तो कुछ ने उत्साही मन से अन्ना की टोपी पहन रखी थी. मैंने देखा तीन चार कार्यकर्तानुमा युवक लोगों को आग्रह कर अन्ना की टोपी पहना रहे थे.

घड़ी में साढ़े सात बजे थे. जुलूस प्रारंभ करने के लिए तीन-तीन की पंक्तियां बनवायी जा रही थीं. दो एक कार्यकर्ता एकत्र लोगों को मोमबत्तियां बांट रहे थे. जुलूस की शुरुआत में अभी कुछ समय और लगने की संभावना थी, पर कुछ व्यक्तियों ने अपनी-अपनी मोमबत्तियां प्रज्ज्वलित कर ली थीं.

इसी समय पहले से जमा लोगों में एक हलचल-सी मच गयी. मैं एकबारगी समझ नहीं पाया कि ऐसा क्यों हुआ है. लोगों की निगाहें मुख्य मार्ग की तरफ़ औत्सुक्य भाव से उठी हुई थीं. मैंने भी उधर ही ग़ौर से देखा. ख़ास से दिखते दो व्यक्ति सिर पर अन्ना की ताज़ादम टोपी धारण किये ख़रामा-ख़रामा इधर ही बढ़े चले आ रहे थे. उन दोनों के पीछे उनकी छाया की तरह दो शख़्स और थे. वे मोबाइल में उलझे हुए थे.

जब पहले से जमा भीड़ के पास वे दोनों ख़ास व्यक्ति पहुंचे, तो उनकी अगवानी करने की होड़-सी लग गयी. उस भीड़ में २०-२५ लोग तो ऐसे दिख रहे थे जिन पर इन दोनों के आगमन की कोई ख़ास प्रतिक्रिया नहीं दिखी. वे अपने स्थान पर स्थितप्रज्ञ भाव से उनको आता देख भर रहे थे. हो सकता है, ये लोग इन शख़्सियतों से अब तक अनजान हों.

जब वे नवागंतुक भीड़ का हिस्सा बन गये तो कुछ लोग खींसे निपोरते हुए उन दोनों के आस-पास मंडराने लगे. मैंने इन दोनों महानुभावों के बारे में बहुत कुछ पढ़-सुन रखा था. अब जुलूस रवाना होने की तैयारियों में तेज़ी आ गयी थी. न्यूज़ चैनल्स और अख़बारों के कैमरामैन भी बड़ी संख्या में पहुंच जाने से भीड़ में उत्साह और नारेबाज़ी की लहर सी दौड़ गयी थी. अधिकतर लोग अपनी अजीबोग़रीब शारीरिक क्रियाओं से कैमरामैनों को अपनी तरफ़ आकर्षित करने की जुगाड़ में लग गये थे. जुलूस के सूत्रधारों का खिला–खिला उत्साही चेहरा देखते ही बन रहा था. तब तक क़रीब ३०० लोगों की भीड़ वहां जमा हो चुकी थी, जिसमें महिलाओं की संख्या भी अच्छी ख़ासी थी. तीन-तीन की संख्या में पंक्तियां सज चुकी थीं. ऐसे जुलूसों में आगे रहने की कला में निष्णात लोग बैनर के आस-पास 'पोज़ीशन' ले चुके थे. बिखरी-बिखरी नारेबाज़ी के साथ बाज़ार-परिक्रमा के लिए जुलूस धीरे-धीरे गतिशील हुआ.

इसी बीच मेरी नज़र पंक्ति-बद्ध जुलूसियों के अग़ल-बग़ल चल रहे कैमरामैनों की तरफ़ गयी. वे दो शख़्स जो उन दो ख़ास व्यक्तियों के साथ ही आये थे, कैमरामैनों को संकेतों के ज़रिये कुछ समझाते हुए बारी-बारी से एक

लिफ़ाफ़ा पकड़ाते जा रहे थे. प्रथम दृष्ट्या तो मैंने यही अनुमान लगाया कि उन दोनों 'ख़ास' व्यक्तियों की कोई अपील या उनका कोई वक्तव्य होगा उस लिफ़ाफ़े में. लेकिन मेरी पत्रकारीय फ़ितरत इस अनुमान से संतुष्ट नहीं हुई और मेरा खोजीपन सच जानने के लिए उतावला हो उठा.

वैसे तो अख़बार से जुड़ा होने के कारण प्राय: सभी कैमरामैन मुझे जानते थे, पर उनमें एक ऐसा था जिससे मेरी ख़ास जान-पहचान थी. मैं धीरे से उसके पास पहुंचा और उसको एक तरफ़ ले जाकर मैंने पूछा — ''मित्र, कैमरामैनों को जो लिफ़ाफ़ा दिया गया है, उसमें क्या है? कुछ छापने लायक़ हो तो मुझे भी बताओ.''

उस कैमरामैन के चेहरे पर सहसा रहस्यमयी मुस्कुराहट बिखर गयी. बोला — ''लिफ़ाफ़े में छापने लायक़ कुछ नहीं है. जो कुछ भी है वह पहले से ही छपा-छपाया है.''

अब आश्चर्यचकित होने की बारी मेरी थी. मैंने पुन: पूछा — ''छपा-छपाया! यार खुलकर बताओ न. लिफ़ाफ़े में है क्यों?''

''प्रसाद है. लेकिन आपको वह नहीं मिलेगा. वह केवल कैमरामैनों के लिए है.'' इतना कहकर वह कैमरामैन आनन-फ़ानन में आगे बढ़ लिया. उसके हाव-भाव से मैं समझ तो गया था कि लिफ़ाफ़े में शब्द रूप में कुछ नहीं है. जो भी है — 'सॉलिड' ही है.

मैं भी जुलूस के साथ-साथ आगे बढ़ लिया. एक मोमबत्ती भी हाथ में थाम ली. लेकिन टोपी धारण करने का साहस न जुटा सका. साहित्यकारों, पत्रकारों और तथाकथित बुद्धिजीवियों के जुलूस को लोग अजीब कौतूहल भाव से देख रहे थे. चेहरों पर प्रवहमान पसीने को रुमाल से बार-बार पोंछते हुए पैदल चलती महिला बुद्धिजीवी ख़ास आकर्षण का केंद्र बनी हुई थीं. कुछ उम्रदराज़ लोग तो उनकी इस दशा पर तरस भी खा रहे थे कि कहां बेचारियों को दो किलोमीटर लंबे जुलूस के चक्कर में डाल दिया.

जुलूस सड़क और मोमबत्ती की रोशनी में जब मुख्य मार्ग पर पहुंचा, तो कुछ जुलूसियों, ख़ासकर उन दो ख़ास व्यक्तियों का उत्साह देखकर सब दंग थे. अब तक तो वे दोनों जुलूस के साथ दबे-दबे से चल रहे थे. अब उन्होंने चतुराई से जुलूस का नेतृत्व संभाल लिया था और अन्ना की टोपी को धारण किये वे अग्रिम पंक्ति की शोभा बढ़ा रहे थे. कार्यक्रम के मुख्य सूत्रधार तक को उन्होंने दूसरी पंक्ति में धकेल दिया था. उस वक़्त नारेबाज़ी को लेकर उनके आसमान छूते उत्साह को देखकर शेष जुलूसिये तो दांतों तले उंगली दबा रहे थे कि भ्रष्टाचार की ख़िलाफ़त और अन्ना हज़ारे के प्रति यह इतना ग़ज़ब का जुनून आख़िर उन दोनों के भीतर कहां से आ गया! जुलूस की समाप्ति तक वे दोनों जुलूस को बीच-बीच में दो तीन मिनट तक रोक-रोक कर 'अन्ना हज़ारे ज़िंदाबाद', 'भ्रष्टाचार अब नहीं सहेंगे' आदि नारे झूम-झूम कर लगवा रहे थे. कैमरामैन उनकी इस अदा को भांति-भांति के एंगल से अपने कैमरों में कैद करने में जुटे थे. 'प्रसाद' मिलने के बाद भगवान का गुणगान तो करना ही पड़ता है.

जुलूस को समाप्ति स्थल तक पहुंचने में अभी कुछ समय और लगेगा. इस बीच इन दोनों 'ख़ास' जुलूसियों के बारे में कुछ जान लें. ये जो लंबे क़द वाले गोरे से सज्जन हैं न, ये सरकारी भू-अभिलेखों की कमज़ोरी का फ़ायदा उठाकर हज़ारों एकड़ क़ीमती ज़मीनों पर कांक्रीट के जंगल की शक्ल में कॉलोनियां खड़ी करके करोड़ों कमा चुके हैं. कई बार इनके दफ़्तरों और निवास पर छापे भी डाले गये हैं. बहुत कुछ बरामद भी हुआ है, पर इनका आज तक कुछ नहीं बिगड़ा. इनकी समृद्धि भ्रष्टाचार के पहियों पर तेज़ी से आगे और आगे दौड़ रही है.

ये जो औसत कद काठी वाले सांवले से दूसरे सज्जन हैं वे भारत की भाग्य विधाता प्रशासनिक सेवा के आला अफ़सर हैं. ये बिल्डर के हम प्याला, हम निवाला हैं. पिछले १५ साल से बहुत सी चीज़ों को उनके साथ 'खुल्लम खुल्ला शेअर' कर रहे हैं. इस जुगलजोड़ी के कारनामों की ऊपर से नीचे तक सबको पूरी मालूमात है, पर बिल्ली के गले में घंटी बांधने से भी भय खाने वाले, इन शेरों के गले में घंटी बांधने का साहस कैसे दिखाते? घंटी बांधने का सामर्थ्य रखने वाले बहुत से तो उनके खूंटे से बंधकर हरी घास चरते देखे-पहचाने जा सकते हैं.

भ्रष्टाचार विरोधी यह जुलूस राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की प्रतिमा के सामने संक्षिप्त भाषणबाज़ी के साथ समाप्त हुआ. प्रतिमा के सामने नारेबाज़ी में उस बिल्डर और अफ़सर ने अपना गला ही जाम कर डाला. कैमरामैनों ने गांधीजी की प्रतिमा के सामने जोश-ख़रोश के साथ नारेबाज़ी करते हुए दोनों के कई क्लोज़–अप भी लिये. जब वे वहां से रवाना

हुए, उनके नूरानी चेहरे प्रसन्नता से दमक रहे थे.

मेरा रोज़ का रुटीन रहता है कि अख़बार के दफ़्तर से घर लौटने पर सोने के पहिले घंटा-आधा घंटा कुछ पढ़ता हूं पर उस दिन न जाने क्यों कुछ भी पढ़ने का मन नहीं कर रहा था. मन उद्वेलित था और दिमाग़ में विचारों की रेलमपेल मची हुई थी. मैंने आज के मोमबत्ती जुलूस में जो दृश्य देखे थे, वे रुक-रुक कर दिमाग़ के परदे पर आ-जा रहे थे. अंततः मैंने फ़ैसला किया कि कल रविवार है बिल्डर और अफ़सर दोनों से मिलूंगा.

अगले दिन मैं एक घंटा विलंब से जागा. चाय पर परिवार के लोग नीचे ड्राइंग रूम में मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे. जब मैं वहां पहुंचा तो बहू पूछ बैठी — ''क्या बात है पापा जी, आप तो बहुत देर से जागे? कोई प्रॉब्लेम है क्या?''

''नहीं बेटा, ऐसी तो कोई बात नहीं है'' — मैंने चाय की पहली चुस्की लेने के बाद स्पष्टीकरण दिया.

चाय की चुस्कियों के साथ अख़बारों पर सरसरी नज़र डालने का मेरा रोज़ का नियम है. जब तक अख़बार न देख लूं दिन की शुरुआत अधूरी-अधूरी सी लगती है. बेटी ने बिस्किट की प्लेट मेरी ओर बढ़ायी. मैंने दो बिस्किट उठाये और फिर अख़बारों के पारायण में खो गया.

आज के अख़बारों में कल वाले मोमबत्ती जुलूस को प्रथम पृष्ठ पर अमूमन डबल कॉलम का कवरेज़ मिला था. एक भी अख़बार ऐसा न था, जिसमें जुलूस के दो-तीन फ़ोटो न छपे हों. इनमें अन्ना की टोपी धारण किये बिल्डर और अफ़सर का ख़ास ध्यान रखा गया था. सीधी सच्ची बात यह कि फ़ोटो में वे दोनों ख़ूब छाये हुए थे. हमारे अख़बार को छोड़ शेष अख़बारों की ख़बरों में उन दोनों का ख़ास तौर से उल्लेख किया गया था. मुझे उस 'प्रसाद' का चमत्कार अख़बारों के पृष्ठ पर साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था, जो जुलूस प्रारंभ होने के पूर्व कैमरामैनों को आदर भाव से दिया गया था.

बात ही बात में पत्नी ने बताया कि लोकल न्यूज़ चैनलों में कल के मोमबत्ती जुलूस को ख़ूब कवरेज़ मिला था. एक लंबे गोरे और दूसरे सांवले व्यक्ति पर कैमरा बार-बार टिक रहा था. जैसे वे कोई वीआईपी हों. वह पूछ बैठी — ''आप तो उस जुलूस में थे, बताइए न, ये दोनों व्यक्ति आख़िर थे कौन?''

मुझे जितना मालूम था, श्रीमतीजी और परिवार के अन्य सदस्यों को बता दिया. अपने मन की पीड़ा को ज़ाहिर करते हुए मैं तत्क्षण बोल उठा — ''यह ज़माना ऐसे ही लोगों का है. ये लोग आजकल हमारे नये राष्ट्रीय चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं.''

चाय भी ख़त्म हो चुकी थी और अख़बारों में ऐसा कुछ शेष नहीं था जो मेरे लिए देखने-पढ़ने को बचा हो. सो मैं भी उठा और पहली मंज़िल पर अपने कमरे में लौट आया.

अन्ना हज़ारे के कथित भक्त उस बिल्डर का मोबाइल नंबर मैं बीती रात अख़बार के दफ़्तर से प्राप्त कर चुका था. अपनी दिनचर्या को आगे बढ़ाने के पूर्व मैंने अपने मोबाइल पर बिल्डर से संपर्क किया. संयोग था कि उससे बात हो गयी. मैंने उसको अपना परिचय दिया और मिलने के लिए समय मांगा. थोड़ी ना-नू के बाद बिल्डर ने मुझे कल रविवार को दिन के तीन बजे अपने निवास पर मुलाक़ात का समय दिया.

अपने सहयोगियों की ज़ुबानी मैंने सुन रखा था कि एक बार सरकार के मंत्री अथवा बड़े अफ़सर से मुलाक़ात का समय मिल सकता है, पर इस बिल्डर से समय मिलना आसान नहीं होता. लोग कहते हैं उसका हर मिनट क़ीमती होता है. उसकी कंपनी की कॉलोनी में मकान ख़रीदने वालों को बिल्डर से रूबरू अपनी बात कहने के लिए बड़ा शीर्षासन करना पड़ता है.

बिल्डर ने मेरा यह अनुरोध भी स्वीकार कर लिया था कि मुलाक़ात के समय वे अपने अफ़सर दोस्त को भी अपने निवास पर बुलवा लेंगे. दरअसल मैं दोनों से एक साथ बात करना चाहता था. वे दोनों दो तन एक मन जो बताये जाते हैं.

मैं अपने टुटपुंजिया स्कूटर से तय समय के दस मिनट पहले ही बिल्डर के निवास पर पहुंच गया. स्कूटर को एक तरफ़ खड़ा करके मैंने आस-पास निहारा. नंबर प्लेट के टॉप पर सरकारी वाहन होने की सूचना देने वाली लालपट्टी वाली कार वहां खड़ी देखकर मैंने सहज ही अनुमान लगा लिया कि अफ़सर महोदय भी वहां तशरीफ़ ला चुके हैं.

मैं अपने मोबाइल को बटेर की तरह जतन से पकड़े हुए जब गार्ड के निकट पहुंचा तो उसने मुझे आश्चर्य के साथ ऊपर से नीचे तक एकबारगी ग़ौर से देखा. जैसे मैं किसी चिड़ियाघर से सीधा चला आया हूं. मैं स्कूटर से

वहां पहुंचा था. इसी कारण शायद वह चकराया हुआ था. उस बंगले पर तो लोग लेटेस्ट मॉडल की कारों में ही आते हैं. वह नेपाली गार्ड गाड़ियों के आकार-प्रकार की बुनियाद पर ही आगंतुकों की हैसियत का अंदाज़ लगाने का आदी हो चुका था. इसके लिए उसको दोष देना भी बेकार है. आजकल गाड़ी और पहनावा, इन दो चीज़ों से ही व्यक्ति की हैसियत जानी-पहचानी जाती है. गुणों को जानने-पहचानने की बारी तो अब बहुत बाद में आती है.

मैंने तीसमारखाई अंदाज़ में गार्ड को अपना परिचय दिया और बताया कि उसके मालिक ने मुझको अभी तीन बजे मुलाक़ात के लिए बुलाया है. गार्ड ने इंटरकॉम पर कोई नंबर घुमाया. सफ़ेद झक पोशाक में एक सेवक बाहर आया और बड़ी शालीनता से बोला — ''आइए सर, मालिक, आपका ही इंतज़ार कर रहे हैं. आइए मेरे साथ भीतर आइए.''

नेपाली गार्ड हक्का–बक्का था. वह कभी मेरी तरफ़ देख रहा था तो कभी बंगले के उस सेवक की तरफ़. एक सुदामा का इतना आदर-सत्कार! मुझे वह सेवक पहली मंज़िल के अत्याधुनिक साज़ोसामान से सुसज्जित एक कक्ष में ले गया. मैं पत्रकार की हैसियत से कई बड़ी-बड़ी हस्तियों के यहां गया हूं, पर ऐसा ठाट-बाट तो पहली बार देख रहा था. प्रथम दृष्टया मैंने अनुमान लगा लिया कि दुनिया की कोई ऐसी सुविधा नहीं थी जो वहां मौजूद न हो. मुझे सहसा लगा बिल्डर कोई इंसान नहीं, अपितु अलादीन है और उसके पास है वह बहुचर्चित जादुई चिराग़.

बिल्डर ने नमस्कार करते हुए मुझे कुर्सी ऑफ़र की. अफ़सर में मुझे बिल्डर जैसी सहजता नहीं दिखी. सच भी है कि वह अफ़सर ही क्या जिसमें अफ़सरी ठसक, यूं कहिए पद का अहम न हो. आज़ादी के बाद देश में इस ठसक बनाम अहम की डिग्री कई गुना बढ़ गयी है. आजकल तो आम धारणा है कि जिसकी जितनी अधिक ठसक वह उतना ही बड़ा अफ़सर.

अफ़सर ने कुछ देर बाद मुझे अपने ध्यान की ज़द में लिया. शब्दों को चबाते हुए बोला — ''सेठ जेठानंद जी ने कल ही मुझे आपके बारे में बताया था. आप राजधानी के काफ़ी सीनियर जर्नलिस्ट हैं. खोजी जर्नलिज़्म में आपने काफ़ी नाम कमाया है. मुझे भी आज आप से

कविता

चलना है तब तक

✍ खदीजा खान

चलना है तब तक
पैरों की थकन
टूटकर चूर न कर दे,
पैरों तले रौंद कर
अपने ही चालों को धूल न कर दे,
कड़ी धूप झुलसा भी दे अगर
कली ढूढ़कर बिखेर भी दे अगर
उखड़ी सांस जब तक
छोड़ न दे हाथ.
चलना है तब तक
जब तक बचा है
जिस्म की मिट्टी में
एक भी बीज
जो बन सकता है दरख़्त
एक भी लम्हा
जो बन सकात है वक़्त
बची हुई एक किरण
जो ला सकती है उजाला
जमी हुई एक बूंद
जो बन सकती है धारा
बस एक यक़ीन है जब तक
चलना है तब तक.

✉ चित्रकोट रोड, धरमपुरा न. १, अशोका पार्क के पास, जगदलपुर, छत्तीसगढ़-४९४००५

मिलकर बड़ी ख़ुशी हुई. वैसे भी जनता के सेवक अफ़सर और पत्रकारों के बीच मेल मुलाक़ात चलती रहनी चाहिए. यह दोनों की हेल्थ के लिए भी अच्छा है. इतना कहकर वह अफ़सर हंसने में व्यस्त हो गया. उसकी हंसी के पार्श्व में कौन-कौन से अर्थ छिपे थे यह जानने-समझने के लिए तब न मेरे पास समय था और न ही माहौल. सो, मैंने अपनी

नज़रें बिल्डर पर जमा दीं. इसी बीच एक सेवक बड़े सलीक़े से ट्राली में बहुत से खाद्य और पेय पदार्थ ले आया था.

''कहिए पंकज जी, आज मेरे ग़रीबख़ाने पर पधारने की तकलीफ़ आपने क्यों की है?'' सेठजी ने बातचीत की शुरुआत की.

मैं तब तक काफ़ी कुछ सहज हो चुका था. मैंने बातचीत के सूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहा — ''परसों उस मोमबत्ती जुलूस में आप दोनों की भागीदारी मुझे कुछ ख़ास लगी. अन्ना हज़ारे के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के प्रति आपकी आस्था देखकर मैं तो सचमुच आश्चर्यचकित हूं.''

सेठजी तत्क्षण बोल पड़े — ''आप आश्चर्यचकित क्यों हुए भला? जुलूस में तो जैसे दूसरे लोग थे वैसे हम भी थे. उनमें से बहुतों ने अन्ना की टोपी भी पहन रखी थी और हमारे सिर पर भी 'मैं अन्ना हूं' शब्द लिखी टोपी थी. जलती मोमबत्ती हमारे हाथों में भी थी और उनके हाथों में भी थी. वे सब भी अन्नाजी के समर्थन में नारेबाज़ी कर रहे थे और हम भी उसमें अपनी आवाज़ मिला रहे थे. इस सब में आश्चर्य जैसी बात क्या है. दिस वाज़ सिंपल एंड व्हेरी कॉमन.''

''हां....हां.... पंकज जी, सेठजी बिल्कुल सही कह रहे हैं'' — अफ़सर ने भी बातचीत में हिस्सा लेते हुए कहा.

''देखिए, हम पत्रकारों की यह आम फ़ितरत होती है कि जब हम किसी से तयशुदा मुलाक़ात के लिए जाते हैं, तो उसके बारे में पूरी मालूमात कर लेते हैं. इससे अंधेरे में तीर चलाने से बच जाते हैं और बातचीत भी सार्थक बन पड़ती है.'' — मैं अपना फ़लसफ़ा ज़ाहिर करते हुए बोला.

''यह तो बहुत अच्छी बात है. ऐसा होना भी चाहिए'' — यह कहा था सेठ जेठानंद ने. तब तक नाश्ते की प्लेट हम लोगों के सामने पहुंच चुकी थी.

मैंने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा — ''जहां तक मैं समझ पाया हूं, इस जुलूस, धरना और अनशन आदि से तो आपका दूर का भी रिश्ता नहीं है. भ्रष्टाचार के भस्मासुर के अंत के लिए जैसा अन्ना हज़ारे चाहते हैं वैसा कोई सख़्त क़ानून बने, इससे भी आपका कोई सरोकार नहीं है. सच बात तो यह है कि आपकी और आपके इन मित्र की तो दुनिया ही दूसरी है. इस फ़ालतू की किच-किच से उस दुनिया का कोई वास्ता नहीं है...''

मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुन रहा अफ़सर बीच में बोल पड़ा — ''आपकी बातें मेरे पल्ले नहीं पड़ रही हैं. जरा खुलकर कहिए न. किसी प्रकार का संकोच न करें.''

''पंकज जी, मैंने आपसे प्रॉमिस लिया है कि हमारी यह बातचीत 'ऑफ द रिकॉर्ड' रहेगी. आप उसे अख़बार में छापेंगे नहीं. इस कारण हम भी आपसे खुलकर बात करेंगे और आप भी साफ़गोई से बात करें,'' यह हस्तक्षेप सेठ जेठानंद की ओर से था.

''मैं अपने वादे पर क़ायम रहूंगा. पत्रकारिता का भी आख़िर एक धर्म होता है. मैं इस धर्म के प्रति कभी कोताही नहीं बरतता. आप विश्वास रखें.''

मेरी ओर से दी गयी आश्वस्ति से उत्साहित होकर सेठजी बोले — ''आप साफ़-साफ़ पूछिए, हम सब बतायेंगे.''

''सच बात तो यह है कि आप दोनों ने सदाचार का ताबीज़ न तो अपनी बांहों पर बांध रखा है और न ही गले में पहना है. पिछले १५-२० बरसों में आपने आज की यह रईसी और रसूख़दारी पाक-साफ़ रास्ते पर चलकर हासिल नहीं की है. अब भ्रष्टाचार आप जैसे लोगों के लिए शर्म की नहीं, बल्कि गर्व की चीज़ बन चुकी है. समृद्धि की जिस चिकनी चमकदार ज़मीन पर आप खड़े हैं, उसके नीचे भ्रष्टाचार के कई अनंत परनाले बह रहे हैं. आप इन परनालों से अनजान भी नहीं हैं. फिर भी आपने उस मोमबत्ती जुलूस में शिरकत की और अन्ना की टोपी भी पहनी, यह पहेली मुझ जैसे व्यक्ति को ठीक से समझ में नहीं आ रही. दिलोदिमाग़ में एक कचोटती सी उथल-पुथल मची हुई है.''

अपनी बात कहने के बाद कुछ थम कर जब मैंने सेठ जेठानंद और उनके अफ़सर मित्र के चेहरों को पढ़ने की कोशिश की, तो पाया कि थोड़ी देर पहले वहां जो प्रसन्नता विराजी हुई थी वह काफ़ी हद तक ग़ायब हो चुकी है.

कुछ देर वातावरण में सन्नाटा पसरा रहा. मैंने तो बातचीत की गेंद उन दोनों के पाले में डाल दी थी. सेठजी ने ही बातचीत के सिलसिले को आगे बढ़ाया — ''देखिए, दाई से पेट और होशियार पत्रकार से सच को नहीं छिपाया जा सकता. आपने जो भी कहा है वह सब सच है. लेकिन इस सच का एक दूसरा पहलू भी है....''

''दूसरा पहलू.... कौन सा दूसरा पहलू?'' मुझे लगा बात उलट रही है. सो, बीच में ही पूछ बैठा.

लघुकथा

करौंदे का पेड़

कमलेश भारतीय

मेरे दोस्त को लगातार दूसरे वर्ष दुख झेलना पड़ा. पिछले साल पिता स्वर्ग सिधार गये थे तो इस बार मां. मैं उनके शहर में मकान ढूंढ़ता हुआ पहुंचा. शोक की लहर में पूरा परिवार चुप बैठा था. दोस्त ने बताया कि हम दो भाई तो चंडीगढ़ में हैं और एक भाई कोटा में, तो एक भाई हैदराबाद में. पिछले वर्ष पिताजी नहीं रहे तब तक तो मां इस घर में थी तो आना-जाना लगा रहता था. कुछ उनकी बीमारी की ख़बर लेने तो कुछ उन्हें अकेलापन महसूस न हो, इसलिए हममें से किसी न किसी भाई का परिवार आता रहता था.

कुछ रुक कर दोस्त ने कहा कि अब किसके लिए आयेंगे और यहां कौन बसेगा? सब अलग-अलग शहरों में बस चुके हैं. पिताजी ने अपनी छोटी सी नौकरी में कितने चाव से यह मकान बनवाया था और उनका कितना मान-सम्मान था. पिताजी थे तो सभी भाई दीवाली के अवसर पर हर हाल में यहां पहुंचा करते. इकट्ठे दीवाली मनाते. लगता है इस मकान की अब यादें ही शेष रह जायेंगी.

कुछ देर बाद जब मैं चलने लगा तब नम आंखों से मेरा दोस्त मुझे बाहर तक छोड़ने आया. उसकी नज़र क्यारी में लगे करौंदे के पेड़ पर गयी और उसने आह भर कर कहा – जानते हो, यह पेड़ मेरी मां के हाथों का लगाया हुआ है. इससे मां की याद आती रहेगी. मैं बाहर निकल आया और सोचने लगा मां तो अब रही नहीं, करौंदे का पेड़ कब तक रहेगा?

उपाध्यक्ष, हरियाणा ग्रंथ आदमी, सेक्टर-१४, पंचकूला. मो.: ९४१६०४७०७५

सेठजी अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए आहिस्ते-आहिस्ते कहने लगे — ''पिछले क़रीब ३० बरसों में हमारे जीवन मूल्यों में तेज़ी से गिरावट आयी है. हम गांधी और नेहरू द्वारा बताये रास्ते से तेज़ी से भटकते जा रहे हैं. अब देश और देशहित, सदाचार और सच्चाई केवल सार्वजनिक जल्सों में लच्छेदार भाषणों में सिमट कर रह गयी है. आप विश्वास नहीं करेंगे मैंने अपना बिजनेस सदाचार के मंगलाचरण के साथ शुरू किया था, पर क़दम-क़दम पर ठोकरें ही ठोकरें मिलीं. मेरा परिवार बंटवारे के समय पाकिस्तान से जो कुछ लेकर आया था वह भी हम ईमानदारी से धंधा करने के जुनून में गंवा बैठे....''

सेठ जेठानंद कुछ भावुक हो गये. तब बातचीत का सूत्र अफ़सर ने सम्हाला — ''जब मैंने सरकारी नौकरी ज्वॉइन की थी, तब मेरे मन में भी बड़ा उत्साह और संकल्प था कि सब काम ईमानदारी से करूंगा. लेकिन ईमानदारी और तबादलों के तूफ़ान में फंसकर मेरा परिवार गाड़िया लुहार की नाईं यहां-वहां भटकता रहा. इसी बीच जेठानंद भाई से मेरी मुलाक़ात हुई. हम दोनों ही ईमानदारी के मारे थे और बहुत कुछ देख भोग भी चुके थे. सो, एक दिन फ़ैसला करके ईमानदारी को हमने अपने घर से बाहर खदेड़ दिया. आज हम दोनों मज़े में हैं. हमारे पास वह सब है, जो एक सुखी आदमी के पास आज के हालातों में ज़रूरी है.''

अफ़सर इतना कहकर सहसा चुप हो गया. सेठजी तब तक सामान्य स्थिति में आ चुके थे. बोले — ''हमारे देश में अब टेढ़ी उंगली से काम करने-कराने का बहुत बुरा ज़माना आ गया है. जो इस रीत को नहीं अपनाते वे अपने भाग्य को कोस-कोस कर ज़िंदगी को ख़ाक करते रहते हैं. ये मित्र तो तीस साल से अफ़सरी कर रहे हैं. सरकारी दफ़्तरों के गोरखधंधे को अच्छी तरह जानते हैं. मुझे भी कॉलोनियों के निर्माण के संबंध में तरह-तरह की अनुमतियों के लिए सरकारी दफ़्तरों में रोज़ जाना पड़ता है. मैं आप से सच कहता हूं चांदी के जूते की मार के बिना कहीं कोई काम नहीं होता. मंदिर की सीढ़ियां उतरते समय जिस तरह भिखारी हमें घेर लेते हैं उसी तरह रिश्वतख़ोरों का सामना हमें करना पड़ता है. अब तो हम इस भ्रष्टाचार को सिस्टम का एक अनिवार्य हिस्सा मान चुके हैं.''

इन बातों को सुनने के पश्चात भी मेरे मन का पत्रकार अभी पूरी तरह संतुष्ट नहीं हुआ था. सो, पूछ बैठा — ''जब आपका सब काम ठीक-ठाक चल रहा है तो आपको मोमबत्ती जुलूस में भाग लेने और अन्ना की टोपी पहनने की ज़रूरत क्या थी?''

''देखिए, हम भारतीयों की ज़िंदगी के साथ कई टोटके जुड़े रहते हैं. टोटकों में भिन्नता हो सकती है, लेकिन टोटकों का अस्तित्व और प्रभाव तो अपनी जगह है ही'' — यह कह रहा था सेठ जेठानंद का वह खेला-खाया अफ़सर मित्र. ''आप जानते हैं कि मकान को बुरी नज़र से बचाने के लिए लोग अजीब-सी मूर्तियां, आकृति अंकित कर काली हांडी बाहर टांग देते हैं. हम दोनों भी कभी-कभी ऐसा ही कुछ करते रहते हैं.''

सेठ जेठानंद मुझे कुछ उतावले शख़्स लगे. बीच में ही बोल पड़े — ''क़रीब पंद्रह दिन तक अख़बारों में पढ़कर और टी.वी. चैनल्स पर देख-सुनकर हम दोनों को अहसास हुआ कि अन्ना हज़ारे और उनकी टोपी को हमारे देश में भ्रष्टाचार विरोधी और सदाचार का प्रतीक मान लिया गया है, तो हम भी अन्ना जी के समर्थन में कूद पड़े, जिससे कि आगे जब भ्रष्टाचार विरोधी सख़्त कानून काम करेगा तो हम उसकी बुरी नज़र अर्थात पकड़ से बच सकें. आपको बता दूं कि हमने उस मोमबत्ती जुलूस की एक वीडियो फ़िल्म बनवायी है. अगले संडे को सरकार के आला अफ़सरों और गणमान्य नागरिकों के लिए हमने उसका एक स्पेशल शो रखा है. साथ में डिनर का इंतज़ाम भी रहेगा. हमारे स्पेशल गेस्ट के बतौर आप भी पधारिए. आप तो अभी से निमंत्रित हैं.''

''एक और बात मैं बताना चाहूंगा.'' — अफ़सर ने फिर हस्तक्षेप किया — ''मोमबत्ती जुलूस के समय अन्ना की टोपी पहने हमारे जो फ़ोटो खींचे गये थे, उनके ब्लो अप तैयार करवाकर सेठजी अपनी कंपनी के दफ़्तर में और मैं अपने बंगले के बैठक कक्ष में लगाने वाला हूं, ताकि आगंतुक देख लें कि हम शुद्ध अन्नावादी, भ्रष्टाचार विरोधी और निष्ठावान सदाचारी लोग हैं.''

इतना कहकर वह घाघ अफ़सर इस अंदाज़ में मुस्कुराया कि मैं लाख कोशिशों के बाद भी उस मुस्कुराहट के अर्थ को नहीं समझ पाया. आजकल मुस्कुराहटें भी इतने प्रकार की होने लगी हैं कि उनको ठीक से समझ पाना टेढ़ी खीर हो गया है.

मैंने मन ही मन अब दोनों सदाचारियों (!) से विदा लेने का निर्णय कर लिया. मुझे ख़ुद में खोया देख सेठ जी ने पूछ लिया - ''क्या सोच रहे हैं आप?''

''मैं अब आपकी इजाज़त चाहूंगा. आज विशेष ड्यूटी निभाने के लिए शाम को प्रेस भी जाना है. आप दोनों का समय भी बड़ा क़ीमती है. अब इजाज़त दीजिए. चलूंगा.''

अब आपको रोकने का हमारे पास कोई बहाना भी तो नहीं है. आप जैसे वरिष्ठ पत्रकार ने मेरे घर आकर जो कृपा की है, उसके लिए मैं आपका बहुत शुक्रगुज़ार हूं. इसी तरह मेहरबानी बनाये रखिये.

सेठजी अपनी कुर्सी से उठ खड़े हुए थे.

कुछ देर बाद फिर बोले — ''मैं अपने मन की दो बड़ी बातें आपको बताये देता हूं. एक तो यह कि मगरमच्छों से दुश्मनी करके तालाब में नहीं रहा जा सकता, और दूसरी, भेड़ के शरीर पर कोई ऊन नहीं छोड़ता. हम कारोबारी लोग भेड़ें हैं. हमें तो अपनी ऊन उतरवाना ही पड़ती है.''

''पत्रकार जी, मेरे तजुर्बे की भी एक बात सुनते जाइए. क़ानूनों के बूते पर न तो राष्ट्र का विकास होता है और न ही किसी प्रकार का आमूल सुधार. आज़ादी के बाद हमारे देश में इतने क़ानून लागू हो चुके हैं कि सरकार को ख़ुद भी उन सबके नाम मालूम नहीं होंगे. कई क़ानूनों का फ़ायदा तो जनता को इस कारण नहीं मिल रहा कि न्यायालयों और संबंधित महकमों के लोगों तक को उनकी पूरी जानकारी नहीं है. आम जनता तो दूर की बात है'' — ये उद्‌गार थे अफ़सर के.

कुछ देर रुकने के बाद टी.वी. पर उपदेश झाड़ने वाले प्रवचनकार की मुद्रा में अफ़सर का अनुभव फिर बोल पड़ा — ''अन्ना हज़ारे का जन लोकपाल क़ानून लड़ते-झगड़ते लागू हो भी गया तो वह भी क़ानूनों की सूची में एक नाम और जोड़ने के अलावा कोई चमत्कार नहीं कर पायेगा. दहेज विरोधी क़ानून, जिसको बहुत क्रांतिकारी माना जाता था. उसका हश्र तो हम देख ही चुके हैं. सच मानिए, जब तक हमारा राष्ट्रीय चरित्र नहीं सुधरेगा, उसका पावित्र्य और बल वापस नहीं लौटेगा तब तक ये क़ानून कुछ नहीं कर पायेगे.''

मैं सेठ जेठानंद और अफ़सर की कबीर वाणी सुन एकबारगी जड़–सा हो गया. कुछ क्षण बाद चेतना लौटी तो नमस्कार कर दरवाज़े की तरफ़ बढ़ लिया.

❖❖❖

कहानी

टेबिल, यानि मेज़

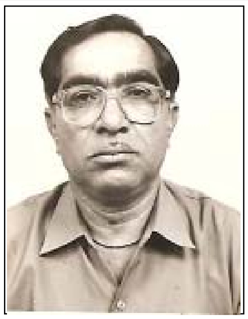

✍ कुंवर प्रेमिल
३१ मार्च १९४७,
टुइयापानी; जिला-नरसिंहपुर (म. प्र.)

प्रकाशन : प्राय: सभी विधाओं में स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन. 'चिनम्मा' (कहानी संग्रह), 'अनुवांशिकी' (लघु कथा संग्रह), 'आम आदमी: नीम आदमी', (हास्य काव्य संग्रह), 'परिक्रमा' (बाल-किशोर उपन्यास), 'ककुभ' द्वारा जबलपुर के लघुकथाकारों की लघुकथाओं का संपादन, 'वर्ष २००९ की लघुकथाएं' का भी संपादन, आकाशवाणी जबलपुर-छतरपुर (म. प्र.) से कहानियों, कविताओं का प्रसारण.

सम्मान : साहित्य लोक परियावां प्रतापगढ़ से 'साहित्य श्री', 'शिवसंकल्प साहित्य परिषद', होशंगाबाद (म. प्र.) से 'कथाश्री', 'पाथेय' जबलपुर से सृजन-अलंकरण तथा देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मान एवं सम्मानोपाधियां.

अनुवाद : लघुकथाओं का मराठी में अनुवाद एवं प्रकाशन, लघुकथाओं का निमाड़ी लोकवाणी में अनुवाद, संकलन प्रकाशनाधीन.

एम.आई.जी.-८, विजयनगर, जबलपुर-४८२००२ (म. प्र.), मो. ९३०१८२२७८२

टी. ए. बी. एल. ई. टेबिल, टेबिल यानि, मेज़.... टी. ए. बी. एल. ई. यानि मेज़. मेरी पुत्री अपने घर में चटाई पर बैठकर पढ़ रही थी. टेबिल की स्पेलिंग रट रही थी. घर में टेबिल-कुर्सी नहीं थी. सरकारी स्कूल में पढ़ती थी, वहां भी उसे कुर्सी-टेबिल नसीब नहीं थी. स्पेलिंग रटते-रटते ज़रूर उसका मन कुर्सी-टेबिल के लिए तरस रहा होगा.

उसे एक टेबिल-कुर्सी उपलब्ध न करा पाने की मेरी इस विवशता पर मुझमें आक्रोश पैदा होना स्वाभाविक ही था. ज़ाहिर है कि मेरी यह लाचारी ज़रूर मुझे ख़ून के आंसू रुला रही थी. बच्ची के प्रति अपने फ़र्ज़ की याद दिला रही थी.

१९७० का दशक था यह. कुल एक सौ अस्सी रुपये की पगार और घर में पूरे पांच जनों की सेवा-संभाल. छठवीं बेटी थी जो छटवीं क्लास में पढ़ रही थी. बेचारी पूरे मनोयोग से टेबिल की स्पेलिंग रट रही थी.

मेरी बहिन और पुत्री दोनों स्टूडेंट थीं. उनकी पढ़ाई का ख़र्च, घर का ख़र्च, आने-जानेवालों का ख़र्च, कुल मिलाकर ख़र्च ही ख़र्च. मेरी ज़िंदगी तो जैसे दांव पर लगी हुई थी. कहीं से मदद की कोई भी गुंजाइश नहीं थी. जब तब मुझे सिर पर बर्फ़ की थैली रखने की ज़रूरत पड़ा करती थी.

घर का हर सदस्य ज़रूरतमंद और ख़्वाइशमंद. तनख़्वाह माह की बीस तारीख़ को ही टें बोल जाती. एक आदमी की कमाई और ख़र्च ज़माने भर का, अब आप ही जमा लें जबकि, मेरी तो छुट्टी हो गयी होगी कब की.

ऐसे बुरे समय में एक पत्नी का ही सहारा होता है जिससे दुखदर्द शेयर किया जाता है. पत्नी आशा पूरी आशावादी थी. वही मुझे समझाती, धैर्य बंधाती. अलबत्ता महंगाई का दंश इतना ज़्यादा नहीं था उन दिनों. मांग और आपूर्ति का समीकरण आज पूरी तरह विफल है.

आज महंगाई चरम पर है पर पता नहीं क्यों आदमी पहले जैसा हलाकान परेशान नहीं है. पता नहीं यह माजरा क्या है? यह माजरा कुछ भी रहा हो पर मैं एक दिन रो पड़ा था.

धर्मपत्नी बोली — कर्मक्षेत्रे.... कुरुक्षेत्रे.... हे आर्यपुत्र रोना पुरुषोचित्त कदापि नहीं है. हम महिलाओं के लिए ही उसे रहने दें. रोती हुई औरत

सदैव संवेदना की हक़दार तो पुरुष रोकर कमज़ोर, असहाय और हंसी का पात्र बन जाता है.

मैं आपको हंसी का पात्र नहीं बनने दूंगी... टेबिल ज़रूर आयेगी... गृहस्थी में आख़िर पत्नी की भी तो कोई जवाबदारी होती है.... और पत्नी के आत्मविश्वास ने मुझे पूरी तरह आश्वस्त कर दिया था.

तब मुझे भगवान बुद्ध जैसा अनोखा-अलौकिक ज्ञान प्राप्त हुआ. ऐसी पत्नियां भी हैं जो अपने अनोखे आत्मविश्वास से ओतप्रोत हैं, अपने पतियों को भी वे अपनी स्नेहिल मुस्कानों से कई आसन्न संकटों से बचाती रहती हैं. महा कवि तुलसीदास ने इस बाबत कुछ लिखा भी है —

धीरज-धर्म, मित्र और नारी,
आपतकाल परखिए चारी.

एक अच्छे आचार-विचारवाली सदगुणी पत्नी हो तो घर का नक़्शा ही बदल जाता है. तब एक मामूली-सा घर भी ताजमहल बन जाता है.

ठीक दूसरे दिन धर्मपत्नी ने बच्ची की गुल्लक फोड़कर अस्सी रुपये पा लिये. गुल्लक फूटने का दर्द था पर क्या किया जा सकता था. घर में एक टेबिल-कुर्सी की महती आवश्यकता थी. दरी पर बैठकर पढ़नेवाली पुत्री को कुर्सी-टेबिल लाकर देना पित्रोचित कार्य नहीं था क्या?

ज़रूर था. दो दिन बाद पुत्री के जन्मदिन पर उसे कुर्सी-टेबिल उपहार में देकर मैं पितृऋण से उऋण होना चाहता था. रविवार के दिन मैं बच्ची को बाइसिकिल के कैरियर पर बैठाकर कुर्सी-टेबिल ख़रीदने बाज़ार निकल गया था.

जरा रुकें! नेपथ्य से हंसने की आवाज़ें आ रही हैं. अरे बच्ची तो बच्ची, उसकी मम्मी भी बाइसिकिल पर बैठकर शहर घूम लिया करती थी. हां, वर्तमान में ज़रूर साइकिल यात्रा हंसी का पात्र बना सकती है.

मुझे अच्छी तरह याद है कि उस समय स्कूटर इक्के-दुक्कों के पास ही हुआ करता था. उस समय बाइसिकिल यात्रा किसी कार यात्रा से कम ठाठदार नहीं होती थी.

आज का आदमी पैसे ख़र्च करना जानता है. पहले के आदमी की तरह पैसे बचाना उसकी फ़ितरत में नहीं है. वह बैंक से लोन लेता है. डिफ़ाल्टर होने पर उसका चेहरा भी नहीं पसीजता है.

वह एक लोन पटाने के लिए दूसरे लोन की जुगाड़ करता है. फिर लोन लेता है... फिर लोन पटाता है. उस समय का आदमी अजीब घोंचू किस्म का था जी — यह मैं अब जान पाया हूं. वह आदमी न जाने क्यों क़र्ज़ लेना ही पसंद नहीं करता था. शायद तभी.... हां...हां तभी.... पीछे की लाइन में ख़ुद को खड़ा पाता था. क़र्ज़ लेना प्रगतिशीलता की निशानी है. हमारी सरकारें भी क़र्ज़ लेती हैं — देती हैं... तभी न क़र्ज़ की लाइन में अव्वल नंबर पर सदैव खड़ी मिलती हैं. वह आदमी आधा पेट खाता पर जीवन भर पैसे बचाता था. उसका मुंह हमेशा सूखा-मुरझाया-पितराया सा प्रतीत होता था. वह किराये के मकान में पैदा होकर किराये के मकान में ही मर-खप जाता था.

भैये, उस आदमी ने बड़ी घुटन झेली है. हर समय जेब ख़ाली, फिर कैसे आती घर में ख़ुशहाली. एक साड़ी झोले में रखकर मायके हो आती थी घरवाली. वह आदमी रिश्वत-विश्वत के चक्कर में भी नहीं पड़ता था. वह कभी भी मुक़द्दर का सिकंदर नहीं होता था. एक कुर्सी-टेबिल का इंतज़ाम भी वह ठीक से अपने बच्चों के लिए नहीं कर सकता था. हैरत होती है जी, उस आदमी की कंगाली देखकर. पर हां बच्चे पैदा करने में कभी-कंजूसी नहीं करता था. दर्जनभर बच्चे मुहल्ले में धमा-चौकड़ी मचाते फिरते थे.

किसी लैंपपोस्ट या बिजली के खंभे के नीचे बैठकर पढ़ भी लेते थे. बड़े की किताब नन्हे के काम आ जाती थी. स्लेट-पेंसिल के बल पर तीन-चार क्लास निकाल लेता था बच्चा. बाप हमेशा उसे देता रहता था ख़िताब — 'अक्ल का कच्चा.' वही मैट्रिक तृतीय श्रेणी में पासकर नौकरी पा जाता था. बाबू से होकर ऑफ़ीसर तक की सुखद यात्रा कर डालता था. इसके विपरीत आज का आदमी पैसेवाला—हौसलेवाला है. दोनों हाथों से कमाता है. इस बदली हुई आबोहवा में एक अदना-सा चपरासी भी करोड़पति बन जाता है.

यहां बड़े-बड़े वटवृक्ष हैं जी. उनके घरों में छापे पड़ते हैं जी. उनके साहबज़ादे-साहेबज़ादियों के स्टेटस बढ़ जाते हैं जी. पड़ोसिनें अपने घर में छापे नहीं पड़ने से नीचा देखती हैं जी. इन आधुनिक धनपतियों, कुबेरपतियों के बड़े वैभव हैं जी.

हां तो जब मैं अपनी सुपुत्री के साथ बाज़ार पहुंचा

कुंवर प्रेमिल की लघुकथाएं

मिली भगत

दो बच्चे खेल-खेल में रेल-रेल खेल रहे थे. ताश के पत्तों का पुल बनाया गया जिस पर से खिलौना रेल गुज़री और पुल ढह गया.

एक बच्चे ने दूसरे से पूछा — ''यह पुल किसने बनाया था?''

''जी मैंने.''

''इस पुल को सामान किसने सप्लाई किया.''

''जी मैंने'', यह पहले वाले का उत्तर था.

''आपने ही तो ताश की गड्डी का सा पुल बनाने का आदेश दिया था और अब यह सब पूछताछ....?''

बच्चों के पिता दूर से यह दृश्य देख रहे थे. दोनों बच्चे अब दौड़कर आपस में गले मिल रहे थे. पिता आश्चर्य से आंखें मल रहे थे.

अंग्रेज़ी प्रेम

वह आकाश में उड़ते परिंदों को देख-देखकर आश्चर्यचकित हो रही थी. वे कभी 'एल' तो कभी 'जेड' आकार में उड़ते हैं तो नयनाभिराम दृश्य आ उपस्थित होता है.

उसे यह सोचकर बहुत दुख होता है कि ये परिंदे कभी हिंदी के अक्षराकार में क्यों नहीं उड़ानें भरते. हमारे देश के आदमी तो आदमी, ये भोले-भाले पक्षी भी अंग्रेज़ी की गिरफ़्त में है.

क्यों है न यह हैरतअंग्रेज़..... वह अंग्रेज़ी प्रेम अभी तक जीवित है जिसे छोड़ गये ते अंग्रेज़!

बच्चियां

''मां मुझे अपने पास नहीं सुलाती.''

''मुझे भी.''

''मुझे भी.''

''मुझे भी.''

''मां मुझे अलग पलंग पर सुलाती है.''

''मुझे भी.''

''मुझे भी.''

''मुझे भी.''

''पर मैं अपने बच्चे को कभी अलग नहीं सुलाऊंगी.''

''मैं भी.''

''मैं भी.''

''मैं भी.''

हमारे आंगन में कुछ बच्चियां खेल रही थीं. खेल-खेल में हमारी बंद आंखें खोल रही थीं.

तो कुर्सी-टेबिल की लंबी-लंबी लाइनें देखकर हक्का-बक्का रह गया. एक साथ आठ-दस दुकानदारों ने घेर लिया.

यह कुर्सी-टेबिल सागौन की.... यह खैर की... निख़ालिस शहतूत की... यह शीशम की.... वे सब लकड़ी की क़िस्में बता रहे थे. सब मिलकर मेरे छक्के छुड़ा रहे थे.

मैंने घबराकर कहा— ''भाईजी, साठेक की बताइए.''

दूकानदार बोला — ''अजी, इतने में तो इस लकड़ी की दातौन भी नहीं मिलेगी. यह सुनकर मेरी सांस चढ़ जाना लाज़िमी था. दूकानदार ने मेरा मज़ाक बना दिया था. घबराहट होना लाज़िमी था.

बग़लवाले ने अपनी होशियारी दिखायी. धीरे से अपनी एक आंख दबायी. मौक़े की नज़ाकत को मैंने जल्दी समझ लिया. पचास में अपना सौदा पटा लिया. ठिलिया पर सामान भी लदवा लिया.

ठिलिया वाला चलने लगा तो मैंने अपनी बेटी को टेबिल पर ही बैठा दिया. बेटी बड़ी हसरत से टेबिल देख रही थी. उसकी आंखों में जो कृतज्ञता के भाव उभरे, वे आज की संतानों में ढूंढ़े से भी कहां मिलेंगे. रास्ते में महिलाएं उसके पैर छूकर जो सम्मान दे रही थीं उसे देखकर मैं अभिभूत हो गया था.

आज बेटियों की हालत बद से बदतर क्यों हो गयी है? बेटियों से किस जन्म का बैर भुनाया जा रहा है? उनसे उनके जन्म लेने की आज़ादी क्यों छीनी जा रही है? भ्रूणहत्या कर उसके साथ यह विश्वासघात क्यों? यह जनमानस बेटियों के मामले में इतना तंगदिल क्यों? बेटियों

की इस बिगड़ती हालत पर मौन क्यों? ये बहुत सारे क्यों के जवाब कोई क्यों नहीं देता है? जब कुर्सी-टेबिल घर सकुशल आ गयी तो पत्नी की ख़ुशी स्वाभाविक थी. ये पत्नियां थीं ही ऐसी कि ज़रा-ज़रा सी ख़ुशियों से ख़ुश हो लेती थीं. आज की पत्नी की ख़ुशी बहुत महंगी है भाई. कार-कोठी-क़ीमती फ़र्नीचर, नौकर-चाकर देखकर ही उनकी ख़ुशी का कुछ अंदाज़ा लगाया जा सकता है. अग़ल-बग़ल वालियां भी जुट गयी थीं. अपनी-अपनी तरह से टेबिल-कुर्सी पर तब्सिरा कर रही थीं. मैंने रात में ही कुर्सी-टेबिल सजा दी थी. चमकदार पन्नी लगा दी थी. कुछ क़िताबें भी क़रीने से लगा दी थीं. सबसे ऊपर बच्चन जी की मधुशाला थी. 'जितनी दूर चलोगे, उतनी पास मिलेगी मधुशाला.' रात में ही एक बार पूरी मधुशाला पढ़ डाली थी.

ग़रीबी सहभागिता का पाठ पढ़ाती है. साझा कार्यक्रमों में दिलचस्पी जगाती है. बुआ-भतीजी और मैंने एक आपसी सामंजस्य बैठा लिया था. अपने-अपने समय में हम तीनों ही कुर्सी-टेबिल का उपयोग कर लिया करते थे.

पोती युग आते-आते घर गृहस्थी के समीकरण बदल गये. बूढ़ा आदमी और बूढ़ी टेबिल दोनों बेकार. जैसे-जैसे मेरी पीठ पर गृहस्थी का बोझ लदता गया ठीक उसी समय टेबिल भी दिनों दिन बोझ से बढ़ती गयी. मेरी किताबें धीरे-धीरे एक ओर खिसकती गयीं और उनकी जगह आलतू-फ़ालतू चीज़ें जगह बनाती गयीं.

घर के सदस्यों की क़लमें, दवाइयों, चूरन-तेल की शीशियां, गम बॉटल्स, पोती के खिलौने, स्लेट-पेंसिलें, पानी की बोतलें, अख़बार, चश्में, आने वाली डाक और न जाने क्या-क्या अगड़म-बगड़म. उसकी हिलती टांगों की परवाह किये बिना उस पर मनमाना वज़न लदता गया. मैं और मेरी टेबिल दोनों ही बचाओ-बचाओ चिल्लाने की स्थिति में आ गये. एक तो कमज़ोरों की हालत वैसे ही पतली होती है, उनके गले से आवाज़ें निकलती ही कहां हैं? यदि जैसे-तैसे निकली भी हों तो पूरी तरह अनसुनी कर दी जाती हैं.

आज के इस आपाधापी वाले ज़माने में बूढ़े असुरक्षित महसूस करते हैं. उनकी दौलत, पेंशन, ग्रेचुएटी पर तो सभी हक़ जमाते हैं पर उनके प्रति सेवा भाव का नितांत अभाव अब खटकने लगा है. एक दिन इसी तरह रोते-बिलखते वे इस असार संसार से कूच कर जाते हैं. उनका नाम भी लेनेवाला कोई नहीं होता है. उनका कमरा ख़ाली कराकर किराये पर चढ़ा दिया जाता है.

एक दिन कुर्सी-टेबिल उठाकर छत की बरसाती पर रख दी गयी. उसकी जगह महंगा सोफ़ा, महंगी टेबिल कमरे की शोभा बढ़ाने लगे. महंगी टेबिल पर कंप्यूटर जी विराजमान हो गये. उनकी शोहरत दिन दूनी, रात चौगुनी जो बढ़ रही है. इनके सामने घर के सदस्य नतमस्तक हो गये हैं. इनके बग़ैर कुछ काम नहीं चलता है. पूरी दुनियां में कंप्यूटरराज चल रहा है — कितना मनोरम दृश्य है. कंप्यूटरजी के सामने कविवर बच्चन जी के सुपुत्र हीरो बच्चनजी विराजमान हैं. उनकी बग़ल में कोई सज्जन या सज्जनियां कंप्यूटरजी के लाजबाब प्रश्नों के लाजबाब उत्तर दे रहे हैं. बदले में कंप्यूटरजी लाखों-करोड़ों का प्रसाद बांट रहे हैं. सोलह कलाओं से सुसज्जित कंप्यूटर जी मंद-मंद मुस्कुरा रहे हैं. इनके बड़े निराले ठाठ हैं भैया!

दैय्या रे दैय्या उनकी मर्ज़ी के बिना पत्ता तक नहीं हिलता है. आदिगुरू हैं वह, जिस पर उनकी कृपा हो जाये, उसकी बल्ले-बल्ले न हो जाये.

एक दिन मैंने कंप्यूटर महोदय से पूछा — ''सर उस पुरानी सी हिल-डुल कुर्सी-टेबिल पर मैंने छः क़िताबें लिख डाली थीं. आपकी कृपा हो जाये तो एक-दो और निपटा ली जायें.'' अपनी गंभीर मुस्कुराहट में वह बोले —''चूहा घुमाना आता है.'' मैं बोला — ''हुजूर उल्टे चूहे हमें घुमा रहे हैं. पूरे घर को उन्होंने फ़ुटबाल ग्राउंड बना डाला है.''

रही-सही कसर मेरी पोती ने पूरी कर डाली. बोली — ''कैसे दादा हैं आप, जो चूहा घुमाना नहीं जानते, फिर क़िताबें कैसे लिख लेंगे आप?''

मैं तब बिना कुछ कहे-सुने अपनी पुरानी कुर्सी-टेबिल ढूंढ़ने निकल पड़ा. मैं अपनी पोती को बरसाती में पड़ी कबाड़वाली कुर्सी-टेबिल दिखाना चाहता था जिसके बल पर मैंने कभी पूरी छः क़िताबें लिख डाली थीं. जिन्हें ख़रीदने में उसकी दादी ने कभी अपनी गुल्लक फोड़कर पूरी बचत-पूंजी ख़र्च कर डाली थी. उसकी बुआ ने भी टी. ए. बी. एल. ई. टेबिल, टेबिल यानि मेज़ रटते-रटते एक दिन एम. एस. सी., पी-एच. डी. भी कर डाली थी और फिर ठाठ से एक दिन किसी विभाग की हेड ऑफ़ द डिपार्टमेंट बना दी गयी थीं.

❖❖❖

कहानी

खारा पानी, मीठा पानी

✍ डॉ. रमाकांत शर्मा
१० मई १९५०, भरतपुर (राजस्थान)
एम ए (अर्थशास्त्र), एम कॉम (वित्तीय प्रबंध),
एल एल बी, पीएच-डी (वाणिज्य)

लेखन : विगत ३० वर्ष से लेखन कार्य से संबद्ध. लेख, कहानियां और कविताएं लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. बैंकिंग विषयों पर 'कार्ड बैंकिंग', 'वित्तीय समावेशन', 'बैंकिंग विविध आयाम' और 'ब्याज मुक्त बैंकिंग' (इस्लामी बैंकिंग) पुस्तकें प्रकाशित. व्यावसायिक संप्रेषण विषय पर पुस्तक इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ बैंकिंग एंड फाइनेंस) के पाठ्यक्रम में शामिल.

प्रकाशन : बैंकिंग विषयों पर मूल रूप से हिंदी में उत्कृष्ट लेखन के लिए भारत सरकार के वित्त मंत्रालय से पुरस्कृत.

अन्य : कई कहानियां और कविताएं अखिल भारतीय स्तर पर पुरस्कृत, राजस्थान स्टेट एग्रो इंडस्ट्रीज कॉर्पोरेशन जयपुर में कार्यालय अधीक्षक और प्रशासनिक अधिकारी के रूप में लगभग ९ वर्ष तक कार्य. १९८० से भारतीय रिज़र्व बैंक के राजभाषा विभाग में विभिन्न पदों पर कार्य. बैंक के शीर्ष प्रशिक्षण संस्थान 'बैंकर्स प्रशिक्षण महाविद्यालय' में लगभग १२ वर्ष तक कार्य करते हुए बैंकिंग क्षेत्र के वरिष्ठ अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के अलावा बैंकिंग क्षेत्र की बैंकिंग विषयों पर एकमात्र प्रोफ़ेशनल तिमाही पत्रिका 'बैंकिंग चिंतन-अनुचिंतन' के प्रवेशांक से लेकर ७ वर्ष तक संपादन-मंडल के सदस्य सचिव के रूप में कार्य.

फ्लैट नं.-४०२, प्लॉट नं.११ए,
श्रीरामनिवास, टट्टा निवासी सीएचएस, पेस्टम सागर
रोड नं.-३, चेंबूर, मुंबई-४०० ०८९,
मो. - ९८३३४४३२७४

हर हिंदुस्तानी के मन में कम से कम एक बार मुंबई घूम आने का सपना ज़रूर पलता है. यह मायानगरी न जाने क्यों हर किसी को अपनी ओर खींचती है. सच तो यह है कि हिंदी फ़िल्मों ने इसकी एक ऐसी छवि बना दी है कि बस यहां पहुंचने भर की देर है, सारे सपने आंखों से निकल कर हथेलियों पर उतर आयेंगे. मेरी आंखों में पलने वाले सपने भी हथेलियों की मुंडेर पर पंख समेटने के लिए बेचैनी भरी करवटें बदलते रहते थे. बस, एक बार अपनी आंखों से मुंबई देख आऊं, यह ख़्वाहिश मेरे मन में भी गाहे-बगाहे सिर उठाती रहती थी. कई बार मुंबई आने का सपना सपनों में उतर आता था और मैं उस अनजाने-अनदेखे शहर की सुनी-अनसुनी जगहों में घूम आता था. आंख खुलती तो बहुत देर तक यह विश्वास नहीं हो पाता था कि सपने भी सपनों में आ सकते हैं.

लेकिन, यह जो मेरे हाथों में था, यह तो सपना नहीं था. विश्वास नहीं हो रहा था कि कैंपस रिक्रूटमेंट में जिस कंपनी ने मुझे अपने यहां काम करने के लिए उपयुक्त समझा था, उसी ने मेरे मन में पल रहे उस सपने को भी पूरा करने की ठान ली थी. मेरी ख़ुशी को दुगुना करते हुए मुझे पहली पोस्टिंग मुंबई में देना और क्या व्यक्त करता था.

मुंबई जाने की मेरी तैयारियों के बीच घर में लोगों के आने-जाने का क्रम निरंतर बना हुआ था. मुंबई के बारे में मेरी जानकारी बढ़ाने में वे लोग भी लगे हुए थे जो कभी सपनों में भी मुंबई नहीं गये थे. कुछ लोग जो सिर्फ़ मुंबई घूम आये

थे या फिर अपने रिश्तेदारों के पास कुछ दिन मुंबई रह आये थे, उनका तो यह अधिकार और कर्तव्य बनता ही था कि वे मुझे मुंबई के बारे में और उससे जुड़े अपने अनुभवों से नवाज़ें. उनकी बातें सुन-सुन कर मेरी ख़ुशी पर पानी फिरने लगा और मन में एक अजीब सा डर समाने लगा.

मेरे दोस्त अमर के रिश्तेदार मुंबई में रहते हैं. वह अभी गर्मियों की छुट्टी में उनके पास रह कर लौटा है. उसी ने बताया था कि पड़ोस के फ़्लैट में क्या हो रहा है, इससे वहां किसी को कोई मतलब नहीं है. पड़ोस में किसी की बीमारी-हारी तो छोड़ो, मौत हो जाने पर भी अकसर पड़ोसी झांकते तक नहीं. भरी सड़क पर चाकू-पिस्तौल की नोक पर लुटने वाले की मदद को कोई नहीं आता. घायल, बीमार और लाश तक पर लोग सिर्फ़ एक नज़र डाल कर आगे बढ़ जाते हैं, लोकल ट्रेन से कट कर अगर कोई मर जाता है तो लोगों को दु:ख अवश्य होता है, पर इस बात का कि उसे कटने-मरने के लिए वही लोकल क्यों मिली जिसमें वे सफ़र कर रहे थे. ऐसी किसी भी दुर्घटना पर लोकल ट्रेन के रुकते ही हज़ारों आदमी सिर्फ़ यही कहते नज़र आते कि इसे भी मरने के लिए यही ट्रेन मिली, अब ऑफ़िस समय पर कैसे पहुंच पायेंगे?

सच, यह सब सुन कर मेरा मुंबई जाने का उत्साह कम होने लगा था. मेरा तो कोई भी नहीं था मुंबई में. इस हैवानियत, बेग़ैरियत और संवेदनहीनता तथा संवादहीनता के बीच कैसे जिऊंगा मैं? क्या मैं अपने इस शहर को छोड़ कर उस शहर का हिस्सा बन जाऊं जहां लोग रहते हैं, इंसान नहीं. क्या मुझे कंपनी से किसी और शहर में पोस्टिंग देने का अनुरोध करना चाहिए? इसी कशमकश में दिन बहुत तेज़ी से निकल गये और अनिर्णय की स्थिति अपने आप ही उस दिन ख़त्म हो गयी जिस दिन मुझे मुंबई के लिए ट्रेन में बैठना था.

कंपनी के ख़र्चे पर मैं पहली बार प्रथम श्रेणी में रेल यात्रा कर रहा था. मेरे अलावा उस केबिन में तीन लोग और थे. एक तो किसी सेमिनार में भाग लेने के लिए मुंबई जा रहा था और अन्य दो लोग वर्षों से मुंबई में ही रहते थे. इधर-उधर की बातें होते-होते बात मुंबई शहर की संवेदनहीनता पर ही आकर टिक गयी. वे दोनों अपने जो अनुभव सुना रहे थे, उनसे मेरा मन बैठा जा रहा था. कई बार मेरे मन में यह विचार आया कि अगले स्टेशन पर उतर कर घर वापस लौट जाऊं. पर, नौकरी के सवाल ने और मन के किसी कोने में उस शहर को एक बार अपनी आंखों से देख लेने की चाह ने ऐसा कोई क़दम नहीं उठाने दिया.

सुबह जब आंख खुली तो पता चला कि मुंबई आने ही वाला है. स्टेशन से बाहर निकलते ही मेरे दिमाग़ में अनायास राही मासूम रजा के उपन्यास 'हिम्मत जौनपुरी' की ये पंक्तियां घूम गयी थीं — 'यह जो बंबई शहर है, कूड़े का बहुत बड़ा डिब्बा है जो हमारे टूटे-फूटे, सड़े गले और चिंगुड़े-मुंगड़े ख़्वाबों से लबालब भरा हुआ है.... वी. टी. के प्लेटफ़ॉर्म पर पांव रखते ही आत्मा की यात्रा समाप्त होती है और तन का संघर्ष शुरू हो जाता है.' मेरी आत्मा सिहर कर रह गयी थी.

होटल ठीक-ठाक था. कंपनी का क्वार्टर मिलने तक यह मेरा अस्थायी आवास था. नहा धोकर मैं घूमने निकल गया. कितना बड़ा शहर था. मेरे शहर जैसे न जाने कितने शहर इसमें समा जायें और फिर भी जगह बच रह जाये. मैं मरीन ड्राइव और नरीमन पाइंट की सुंदरता देख कर दंग रह गया. पहली बार समुद्र के विस्तार के सामने खड़ा था. और उसके सम्मोहन ने स्तब्ध कर दिया था. सच कितनी सुंदर है मुंबई. पता नहीं उस समय मुंबई को लेकर मेरा सारा डर न जाने कहां तिरोहित हो गया था.

चर्चगेट स्टेशन से लोगों की उमड़ती भीड़ देख कर मुझे लगा कि अवश्य ही किसी राजनीतिक दल ने आज रैली आयोजित की होगी. यह तो बाद में पता चला कि हर पल ऐसी ही भीड़ वी. टी. स्टेशन पर आने वाली हर लोकल से भी निकलती है और शाम को ये सारे लोग फिर से लोकल पकड़ने के लिए स्टेशनों पर आ जाते हैं. इसके अलावा, सड़कों, रास्तों को अवरुद्ध करता हुआ बसों और निजी वाहनों का विशाल रेला भी था जो लाखों लोगों को उनके गंतव्य तक ले जा रहा था. कहां से आती है और कहां समाती है इतनी भीड़? मैं हैरत से भर उठा था और यह सोच-सोच कर अंदर ही अंदर सिहरने लगा था कि अब मुझे भी इसका हिस्सा बन जाना है.

अगले दिन मैंने कंपनी ज्वाइन कर ली थी. जिस विभाग में मुझे लगाया गया था, उसमें दस लोग पहले से थे. सभी से मेरा परिचय कराया गया, उन्होंने रस्मी मुसकान के साथ मेरा स्वागत किया और कुछ व्यक्तिगत मालूमात के बाद अपने-अपने काम में लग गये. इतने

फीके स्वागत की तो मैंने कल्पना भी नहीं की थी. थोड़ी देर बाद विभाग के इंचार्ज ने बुलाया. उसने अपने विभाग में मेरी नियुक्ति का स्वागत करते हुए विभाग के कार्यकलापों की संक्षिप्त जानकारी दी और फिर सुपरवाइज़र खन्ना को बुला भेजा जो तुरंत ही वहां आ पहुंचे. उन्होंने आपस में विचार-विमर्श के बाद मुझे बताया कि कुछ ही दिनों में मुझे मुंबई में ही स्थित उनके ट्रेनिंग कॉलेज में ट्रेनिंग के लिए भेजा जायेगा और तब तक कुछ फ़ाइलें पढ़कर विभाग के कार्य और कार्यप्रणालियों की जानकारी लेती रहनी होगी. इंचार्ज के केबिन से निकलने के बाद खन्ना साहब ने मुझे कोने वाले एक वर्कस्टेशन में बैठा दिया और पढ़ने के लिए कुछ फ़ाइलें देकर चले गये.

लंच तक मैं फ़ाइलों को उलट-पलट कर कुछ समझने की कोशिश करता रहा. लंच का समय होते ही लोग उठ-उठ कर जाने लगे. मुझे समझ नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूं और कहां जाऊं. तभी वह लड़का मेरे पास आकर खड़ा हो गया जिसका परिचय पारस के नाम से कराया गया था. उसने मुझसे कहा — ''लंच के लिए नहीं चलना क्या?'' मैं तुरंत ही खड़ा हो गया.

लंच करते समय पारस ने बताया कि वह उत्तर प्रदेश के हाथरस शहर से आया है और उसने पिछले महीने ही कंपनी ज्वाइन की है. उससे बहुत सी बातें पता चलीं. विभाग में काम बहुत ज़्यादा है, लोग सामान्यत: अपने काम में डूबे रहते हैं. ट्रेन पकड़ने की भागदौड़ में किसी को किसी से ज़्यादा बात करने का समय नहीं मिल पाता. उसे अभी कुछ दिन पहले ही कंपनी ने एक लीज़ फ़्लैट लेकर दिया है जो ऑफ़िस से लगभग तीस किलोमीटर दूर है. लोकल ट्रेन से आने-जाने के अलावा कोई विकल्प नहीं है, जिसमें चढ़ना-उतरना किसी जंग लड़ने से कम नहीं है. पूरा सफ़र नर्क की तरह कटता है जिसमें अपने हाथ-पैर हिलाने तक की आज़ादी नहीं. सांस लेना दूभर हो जाता है और कपड़े एक-दूसरे का पसीना सोखने में लगे रहते हैं. जहां उसे फ़्लैट मिला है, वहां आस-पास के घरों के दरवाज़े हमेशा बंद ही दिखाई पड़ते हैं और कभी लोग आते-जाते दिखाई पड़ते भी हैं तो वे पहचान बढ़ाने के लिए बिल्कुल उत्सुक नज़र नहीं आते. बस एक फीकी सी मुस्कान ही इस बात की साक्षी होती है कि वे आपके चेहरे को पहचानने लगे हैं. हरदम हड़बड़ी में

प्रकृति परक दोहे

✍ मधु प्रसाद

हवा हुई है सिरफिरी, फैलाती है बात ।
भगा ले गयी चांद को, रजनी रातों रात ।।

माघ गया, फागुन गया, आने को है चैत ।
सूख रही है बालियां, नाच रहा है खेत ।।

सहमी-सहमी लग रही, क्यों वासंती धूप ।
आसमान से देखता, आसमान का भूप ।।

सावन की बूंदें पड़ीं, धरती हुई निहाल ।
हरी चुनरिया ओढ़ के, आज चली ससुराल ।।

जेठ-जेठ जब से हुआ, खूब बढ़ा अधिकार ।
आषाढ़ी संदेश से, कर बैठा तकरार ।।

लज्जा से दुहरी हुई, हरसिंगारी गंध ।
चटक गये सब ओर से, संयम के अनुबंध ।।

केसर-केसर तन हुआ, क्षण-क्षण है अभिसार ।
अंतर का संयम गया, प्रियतम आये द्वार ।।

हरसिंगार के नैन में, उतरी मादक प्यास ।
कुसुम कुसुम को तक रहे, भूल भूख और प्यास ।।

निशा गयी, लो दिन बीता, होने को है शाम ।
सूरज घर को लौटता, करने को आराम ।।

सावन ने भर भर दिया, प्यासी भू को मेह ।
हरियाली से भर गयी, सूखी थी जो देह ।।

सूरज लेकर आ गया, किरणों का उपहार ।
धरती ने स्वागत किया, जैसे हो त्योहार ।।

गोरी जब से आ गयी, अमलतास के गांव ।
दिवस महावर हो गये, सिंदूरी है छांव ।।

कैसे बीतेंगे यहां, दिवस, महीने, साल ।
हरियाली को ढूंढ़ता, जंगल करे सवाल ।।

धूप पसर कर लेटती, झरबेरी के पास ।
कांटे इठलाने लगे, था नूतन अहसास ।।

✉ १९, गोकुलधाम सोसायटी,
कलोल-महेसाणा राजपथ, चांदखेड़ा,
अहमदाबाद-३८२४२४. मो.: ७९२३२१९०८४९

रहनेवाले इन लोगों को शायद दोष दिया भी नहीं जा सकता. मैं ध्यान से उसकी बातें सुनता रहा. आख़िर, मुझे भी तो इस सबसे गुज़रना ही था.

पारस के रूप में मुझे एक ऐसा साथी मिल गया था जिससे मैं अपने सुख-दु:ख की बातें कर सकता था. वह भी अकेला था, उसे भी ऑफ़िस और घर का माहौल सिर्फ़ अकेलापन दे रहा था. ऑफ़िस में तो फिर भी समय कट जाता, उसके बाद का समय काटे नहीं कटता था. छुट्टी के दिनों में जहां रोज़ाना की भागदौड़ से राहत मिलती थी, वहीं ख़ालीपन और बेचारगी का ऐसा अहसास भी भर जाता था जिससे घबराहट होने लगती थी. अक्सर, ऑफ़िस के बाद पारस अपनी लोकल पकड़ने के लिए भागता नज़र आता था और मैं बिलकुल अकेला हो जाता था. कभी-कभी उसकी भी उस दड़बे में जाने की इच्छा नहीं होती थी. और वह अपनी नियमित लोकल छोड़ देता था. फिर, हम देखी-अनदेखी जगहों पर घूमने निकल जाते. समुद्र के किनारे साथ चलना बहुत भला लगता और हम दफ़्तर, घर-परिवार और अपने बारे में बातें करते घंटों घूमते रहते. कहीं बैठ कर खाना खाते और फिर अपने-अपने रास्ते चले जाते. ऑफ़िस में फ़ाइलें पढ़ते-पढ़ते विभाग के काम के बारे में मुझे काफ़ी जानकारी हो चली थी. कुछ चीज़ों को समझने-समझाने के सिलसिले में विभाग के अन्य लोगों से विचार-विमर्श भी होने लगा था. मैंने यह महसूस किया कि किसी के पास भी फ़ालतू बात करने का समय नहीं था. काम के अलावा इधर-उधर की बातें बहुत कम ही हो पाती थीं. मैंने किसी से घनिष्ठता बढ़ाने की कोशिश की भी तो कोई उत्साहजनक प्रतिसाद नहीं मिला. पता नहीं ऐसा क्या था कि लोग एक दूरी बनाये रखना चाहते थे. यह उनके स्वभाव में था या फिर जैसा कि लोग कहते थे, इस शहर की संस्कृति ही कुछ ऐसी थी.

अपने विभाग के साथियों के अलावा अन्य विभागों के लोगों से मिलना-मिलाना और उन्हें जानना तो और भी मुश्किल था. इस संबंध में एक मज़ेदार वाक़या यह हुआ कि एक दिन डाकिया किसी का व्यक्तिगत रजिस्टर्ड लेटर लेकर हमारे विभाग में चला आया. उस नाम का कोई व्यक्ति हमारे विभाग में नहीं था. पत्र भेजने वाला उसके विभाग का नाम लिखना भूल गया था. इसलिए इस बड़ी कंपनी के हर विभाग में डाकिया पूछता घूम रहा था. हमारे बिलकुल बग़ल वाले पार्टीशन के उस ओर लेखा विभाग के लोग बैठते थे और गलियारे में से आते-जाते समय नज़र आते रहते थे. इस कारण वे हमारे और हम उनके चेहरे पहचानते थे. सामने पड़ते ही यहां की संस्कृति के अनुसार मुस्कानों का आदान-प्रदान भी हो जाता. ऐसा ही एक व्यक्ति तभी गलियारे में नज़र आया. मैंने उसे इशारे से बुलाया और डाकिये के हाथ से पत्र लेकर उसे दिखाते हुए पूछा कि क्या वह उस आदमी को जानता है? उसने पत्र लेकर ध्यान से देखा और फिर भेजने वाले के पते पर एक नज़र डालते हुए हंस कर कहा कि यह पत्र तो उसी का है. कितनी अजीब बात थी, वह हमारे पड़ोस में ही बैठता था. लोग उसे शक्ल से तो पहचानते थे, पर उसका नाम किसी को भी पता नहीं था. उस दिन हमारे विभाग के लोगों को पहली बार उसका नाम मालूम हुआ — आत्माराम शिंदे. पत्र लेने के बाद उसने मुझे थैंक्स कहा और मेरा नाम पूछा, मुझे अच्छा लगा. उस दिन के बाद वह जब भी सामने पड़ता, पहले से कुछ अधिक चौड़ी मुस्कान हमारे अधरों पर उतर आती.

इस बीच कंपनी ने मुझे भी एक लीज़ फ़्लैट दे दिया था. होटल में रहने का आराम उस फ़्लैट में जाने के बाद ही समझ में आया. यह फ़्लैट ऑफ़िस से बहुत दूर था. पारस की बतायी सारी बातों का मर्म समझ में आने लगा. लोकल ट्रेन के लिए भागना, धक्का-मुक्की सहना और जूस निकले हुए फल की तरह ऑफ़िस पहुंचने वालों में भी शामिल हो गया. ऑफ़िस के बाद का और छुट्टी के दिन का समय निकालना आफ़त लगता. मन करता किसी से बात करो, पर किससे? आस-पड़ोस के लोग तो घरों में ही बंद रहते. अपने बिल्कुल बग़ल वाले फ़्लैट में रहनेवाले परिवार से मैंने जान-पहचान बढ़ाने की कोशिश की. उसमें मियां-बीबी ही रहते थे. उन्होंने दरवाज़े पर खड़े होकर मुश्किल से एक मिनट बात की और फिर व्यस्तता का बहाना बना कर दरवाज़ा बंद कर लिया. उसके बाद उनके घर का दरवाज़ा थोड़ा सा भी खुला नज़र नहीं आया और मेरी भी उनसे कभी बात करने की हिम्मत नहीं हुई.

मेरा एक दोस्त इंटरव्यू देने के लिए मुंबई आ रहा था. उसकी गाड़ी सुबह पांच बजे दादर स्टेशन पहुंचती थी. उसे लेने के लिए मुझे सुबह चार बजे घर से निकलना था क्योंकि दादर तक पहुंचने में लगभग एक घंटा तो लग ही

जाता था. समय पर स्टेशन पहुंचने और पहली बार मुंबई आने वाले अपने दोस्त की सुविधा को देखते हुए मैंने पहले से ही एक टैक्सी बुक कर ली थी. सुबह साढ़े तीन बजे अलार्म सुन कर उठा और जल्दी-जल्दी तैयार होकर बाहर निकला तो देखा कि उतनी सुबह उस पड़ोसी का दरवाज़ा खुला हुआ था. उत्सुकतावश एक नज़र डाली तो देखा वे अपना सामान बांध कर कहीं निकलने के लिए तैयार थे. मैंने जब तक लिफ़्ट बुलायी वे भी कुछ हड़बड़ी में बाहर निकल आये और उसी लिफ़्ट में सवार हो गये. मेरी उपस्थिति को नज़रअंदाज़ करते हुए वे आपस में बात करने लगे जिसका लब्बोलुबाव यह था कि उनकी फ़्लाइट का टाइम हो रहा था और उन्हें इतनी सुबह टैक्सी मिलने की चिंता हो रही थी. हम साथ ही नीचे उतरे. वास्तव में, दूर-दूर तक किसी टैक्सी का नामोनिशान नहीं था. हां, प्राइवेट कार सी दिखनेवाली मेरी टैक्सी मेन गेट से थोड़ा हट कर खड़ी थी. उनकी चिंता को देखते हुए मैंने उन्हें अपनी टैक्सी से उन्हें एयरपोर्ट तक छोड़ने की पेशकश की जो रास्ते में ही पड़ता था. कुछ हिचकते हुए उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और वे भी टैक्सी में बैठ गये. रास्ते में पहली बार उन्होंने मुझसे खुल कर बातें कीं, कुछ अपने बारे में और कुछ मेरे बारे में. एयरपोर्ट पहुंच कर उन्होंने मुझे धन्यवाद दिया और वे तेज़ी से अंदर चले गये. मैं दादर जाते समय यह सोच कर ख़ुश था कि इस बहाने उन लोगों से मेरी अच्छी जान-पहचान हो गयी थी.

इंटरव्यू के बाद मेरा दोस्त मुंबई घूमने के लिए तीन चार दिन मेरे पास रुका. मुंबई आने के बाद ये तीन दिन सबसे अच्छे गुज़रे. शनिवार और रविवार होने के कारण दो दिन की छुट्टी भी थी. हम सुबह से घूमने निकल जाते और रात का खाना खाकर ही घर लौटते. उसके चले जाने के बाद फिर से वही अकेलापन शिद्दत से चुभने लगा. घर की बहुत याद आती. छुट्टियां न होने के कारण अभी एक और माह घर जाने की सोच भी नहीं सकता था. विशेषकर, मां की बहुत याद आती जो काफ़ी दिन से बीमार चल रही थी. कभी-कभी मन करता उड़ कर मां के पास पहुंच जाऊं. फिर से अपने उस घर, शहर, दोस्तों, पड़ोसियों और उस माहौल का जम कर आनंद लूं. पर, एक बेबस आह निकल कर रह जाती. मैं बेसब्री से उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था, जब कंपनी के नियमानुसार मुझे छुट्टी मिल सकती और मैं अपने शहर जा सकता.

यहां आये मुझे दो माह से अधिक हो गये थे, पर किसी कारणवश मुझे अब तक ट्रेनिंग के लिए नहीं भेजा जा सकता था. सुपरवाइज़र ने मुझसे छोटे-मोटे काम लेना शुरू कर दिया था. बाकी वही रुटीनी ज़िंदगी चल रही थी जिसमें मुंबई आने का उत्साह कब का ख़त्म हो चुका था. देखने लायक़ सारी जगहें एक से अधिक बार देख चुका था. मेरे और पारस के फ़्लैट ऑफ़िस से तो बहुत दूर थे ही, बिलकुल अलग-अलग दिशाओं में भी थे. दोनों वक़्त बाज़ार का खाना खा-खा कर सेहत पर असर पड़ने लगा था. इसलिए हमने घर में ही खाना बनाना शुरू कर दिया था. इससे समय काटने में भी काफ़ी मदद मिल जाती थी, पर इस वजह से ऑफ़िस के बाद हम तुरंत ही अपनी-अपनी लोकल पकड़ने के लिए भाग निकलते थे. अब साथ घूमना कम होता जा रहा था. हां, छुट्टी के दिन हमारी कोशिश होती कि हम साथ रह सकें. कभी वह मेरे घर चला आता और कभी मैं उसके घर चला जाता, या फिर हम किसी जगह मिल लेते और निरुद्देश्य ही सही यहां-वहां घूम कर अपने अकेलेपन के अहसास को कम कर लेते.

एक दिन ऐसे ही घूम फिर कर जब मैं घर पहुंचा तो देखा लिफ़्ट के पास मेरे वे पड़ोसी खड़े थे जिन्हें उस दिन मैंने सुबह एयरपोर्ट पहुंचाया था. जब तक मैं लिफ़्ट के पास पहुंचा तब तक लिफ़्ट ग्राउंड फ़्लोर तक आ चुकी थी और वे उसका दरवाज़ा खोल कर उसके एक कोने में छत को घूरते हुए ऐसे खड़े हो चुके थे जैसे वहां पिकासो की कोई ख़ूबसूरत कृति टंगी हो. मैं तीसरी मंज़िल तक के उस सफ़र में उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित होने और मुस्कानों का आदान-प्रदान होने की राह देखता रहा, पर वे अजनबियों की तरह खड़े रहे और जैसे ही लिफ़्ट अपने गंतव्य तक पहुंची, वे तुरंत ही लिफ़्ट से निकल कर अपने फ़्लैट में समा गये. मैं लिफ़्ट के बाहर ही कुछ क्षणों तक हतप्रभ–सा खड़ा रहा. उस दिन जब वे मेरी टैक्सी में बैठे थे तब कितना घुलमिल कर बातें कर रहे थे और आज उन्होंने मुझे पहचानने से ही इनकार कर दिया था. क्या सचमुच यहां सिर्फ़ स्वार्थ ही सब कुछ था. क्या राही मासूम रज़ा ने सच लिखा था कि यह बड़ा बेदर्द और बड़ा बेमुरब्बत शहर है जो सिर्फ़ बदन से मशीन और दिलों से पत्थरों तक फैला हुआ है. मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था और मस्तिष्क में एक बड़ा सा शून्य

लिये अपने पलंग पर जाकर पड़ गया था.

वह ज़माना मोबाइल फ़ोन और एसटीडी बूथों का नहीं था. मुंबई के लिए रवाना होते समय मां ने मुझसे कहा था — ''बेटा, पहली बार तू अकेला इतनी दूर जा रहा है, तेरी बहुत चिंता रहेगी. हर दस-पंद्रह दिन में एक पोस्टकार्ड ज़रूर डाल दिया करना.'' उसकी आंखों से बहते आंसू पोंछते हुए मैंने कहा था — ''हां, सचमुच पहली बार तुम सबसे इतनी दूर जा रहा हूं जहां से जब मन चाहे तुम्हारे पास आ भी नहीं पाऊंगा. तुम अपनी तबीयत का ख़्याल रखना. मैं कोशिश करूंगा कि कभी तुमसे फ़ोन पर बात कर पाऊं, लेकिन हर हफ़्ते एक पोस्टकार्ड ज़रूर लिखूंगा. तुम भी जवाब देती रहना.'' मां से किये वायदे को मैं अक्षरशः निभा रहा था.

उस दिन जब पोस्टकार्ड लाने के लिए मैं डाकघर के लिए निकल रहा था तो मेरे बग़ल वाले वर्कस्टेशन में बैठने वाले शाह साहब ने मुझसे वैसे ही पूछ लिया कि मैं कहां जा रहा था. जब मैंने उन्हें बताया कि मैं पोस्टकार्ड लेने जा रहा हूं तो उन्होंने तुरंत ही अपने ड्राअर से एक पोस्टकार्ड निकाल कर मेरे हाथ पर रखते हुए कहा — ''लो, अपना काम चला लो.'' उस समय पोस्टकार्ड की कीमत मात्र पंद्रह पैसे थी. इतनी छोटी राशि निकाल कर उन्हें देने में बहुत संकोच हो रहा था. पोस्टकार्ड हाथ में लेते हुए मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और मन ही मन यह तय किया कि अगली बार दो पोस्टकार्ड ख़रीद कर लाऊंगा और एक उन्हें लौटा दूंगा. लेकिन, मुझे याद नहीं रहा.

क़रीब दस दिन बाद जब मैं किसी काम से अपनी डेस्क से उठा तो शाह साहब अपनी सीट पर नहीं थे. उनकी डेस्क पर फ़ाइलों के ऊपर एक डायरी खुली पड़ी थी. अनायास ही उस खुले पृष्ठ पर मेरी नज़र चली गयी. उसमें एक जगह अपना नाम देख कर मैं चौंक उठा. किसी की डायरी देखना कोई अच्छी बात नहीं है, पर अपना नाम देख कर उत्सुकता होना स्वाभाविक था. कई लोगों के नाम थे और उनके सामने कुछ रक़म लिखी हुई थी. मेरे नाम के सामने भी पंद्रह पैसे दर्ज थे और लिखा था — पोस्टकार्ड के पैसे बाक़ी. मेरा सिर घूम गया. क्या वह डायरी और उसका वह पृष्ठ जानबूझ कर इसलिए खुले छोड़ दिये गये थे कि मैं उसे देख लूं और वे पंद्रह पैसे उन्हें लौटा दूं.

मैं सारे काम छोड़ कर सीधा पोस्ट ऑफ़िस गया और वहां से पोस्टकार्ड ख़रीद कर ले आया. जब तक मैं लौटा शाह साहब भी अपनी सीट पर लौट आये थे. मैंने उनसे पोस्टकार्ड लौटाने में हुई देरी के लिए क्षमा मांगते हुए उन्हें पोस्टकार्ड दिया तो उन्होंने मेरे सामने ही डायरी का वह पृष्ठ खोल कर उसमें से मेरा नाम काट दिया. मुझे बहुत ही अजीब सा महसूस हुआ. यह सच था कि बात हिसाब की थी. पर, अगर मैंने अपने किसी साथी को पंद्रह पैसे का पोस्टकार्ड दिया होता तो मैं किसी क़ीमत पर भी उससे पोस्टकार्ड वापस लेने या उसके पैसे लेने को तैयार न होता. डायरी में लेनदारी दर्ज करने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी. शायद यह मुझे याद भी नहीं रहता कि मैंने किसी को पोस्टकार्ड दिया है. जो कुछ हुआ था उस पर यक़ीन करने का दिल नहीं कर रहा था. क्या यह भी इस आर्थिक राजधानी की संस्कृति का हिस्सा है? क्या यहां रिश्ते नहीं, सिक्के चलते हैं? मेरा जी मिचला गया था.

मुंबई आये मुझे तीन महीने पूरे होने वाले थे. तीन महीने पूरे होने पर मुझे चार दिन की केज़ुअल लीव मिल सकती थी. मैं बेसब्री से उस दिन का इंतज़ार कर रहा था जब अपने शहर के लिए गाड़ी पकड़ूंगा. तभी मुझे बताया गया कि आने वाले महीने की दो तारीख़ से मुझे एक सप्ताह की उस ट्रेनिंग पर जाना है जो अब तक किसी न किसी कारण टलती रही थी. मुंबई के एक पॉश इलाक़े में हमारी कंपनी का बहुत बड़ा और आधुनिक सुविधाओं से युक्त ट्रेनिंग कॉलेज था. जिस ट्रेनिंग के लिए मुझे भेजा गया था, उसमें कंपनी के विभिन्न विभागों से तीस अधिकारी भाग लेने आये हुए थे. उनमें से कुछ चेहरे देखे हुए तो लग रहे थे, पर मैं उनसे कभी रूबरू नहीं हुआ था. हां, आत्माराम शिंदे ज़रूर नज़र आये, वे क्लास में सबसे पीछे बैठे थे. लंच तक एक के बाद एक सत्र चलते रहे. व्यस्तता इतनी रही कि और कुछ देखने-सोचने की फ़ुर्सत ही नहीं मिली. लंच के समय पास बैठे हुए लोगों से बातचीत हुई तो अच्छा लगा. शायद वे भी मेरी तरह अकेलापन अनुभव कर रहे थे और बातचीत के लिए साथी ढूंढ़ रहे थे. लंच ढाई बजे तक था और उसके बाद की क्लास साढ़े तीन बजे तक चलनी थी.

सभी सत्र बहुत जानकारीपूर्ण और उपयोगी थे. यह सत्र भी बहुत अच्छा चल रहा था, कब साढ़े तीन बजे पता ही नहीं चला. सत्र समाप्त होने को ही था कि एक चपरासी

क्लास में आया और उसने अपने हाथ का काग़ज़ प्रशिक्षक को दिया तो वे पढ़ाते-पढ़ाते रुक गये और हाथ के काग़ज़ को ध्यान से पढ़ने लगे. हम सभी उन्हें उत्सुकता से देख रहे थे. ज़रूर कोई नोटिस होगा. पर, उन्होंने संभवतः उस तीन-चार लाइन के मैसेज को कुछ क्षणों में ही समाप्त करके पूरी क्लास पर एक नज़र डाली और गंभीर आवाज़ में पूछा — ''अखिलेश दवे कौन है?'' मैं अपना नाम सुन कर हड़बड़ा कर खड़ा हो गया तो उन्होंने कहा — ''आई एम सॉरी अखिलेश, तुम्हारे विभाग में तुम्हारे घर से मैसेज आया है कि तुम्हारी मां आइसीयू में भर्ती हैं और तुम्हें तुरंत घर बुलाया है.'' यह सुन कर मेरे पैरों तले की ज़मीन खिसक गयी और मैं धम्म से अपनी सीट पर बैठ गया. मां की तबीयत बहुत सीरियस होगी तभी इस तरह का मैसेज आया था. मैं सिर पकड़ कर बैठ गया और रोकते-रोकते भी आंखों से आंसू बहने लगे.

क्लास वहीं समाप्त हो गयी थी. लगभग सारे ही लोग मुझे घेर कर खड़े हो गये. कई हाथ सांत्वना में मेरी पीठ सहलाने लगे. उनमें से ही कोई भाग कर पानी ले आया और उसने ग्लास मेरे मुंह से लगा दिया. लोगों के शब्द मेरे कानों में पड़ रहे थे — 'चिंता मत करो, सब ठीक हो जायेगा.'

जब मैं कुछ संयत हुआ तो मैंने देखा आत्माराम शिंदे मेरे पास ही बैठे थे. उन्होंने मुझसे कहा — ''अखिलेश, परेशान मत हो, चिंता करने से तो कुछ भी नहीं होगा. इस समय तुम्हें अपनी मां के पास होना चाहिए. तीन घंटे बाद ही तुम्हारे शहर के लिए एक फ़्लाइट जाती है. तुम समय वेस्ट मत करो और तुरंत फ़्लाइट पकड़ने की तैयारी करो.'' मैंने रुंधे गले से उन्हें बताया कि मैं ख़ुद यही सोच रहा था. लेकिन मेरी जेब में कुल पचपन रुपये थे. इसके अलावा जो कुछ भी मेरे पास था, सब बैंक में था और बैंक बंद हो चुके थे. उन्हें समस्या की गंभीरता समझ में आ गयी थी. वे क्षण भर कुछ सोचते रहे और फिर मेरा हाथ पकड़ कर बोले — ''चलो, पहले हम तुम्हारे विभाग में चलते हैं और उसके बाद कुछ सोचेंगे.''

आत्माराम शिंदे के साथ जब मैं अपने विभाग में पहुंचा तो मुझे देख कर सभी लोगों ने अपना-अपना काम छोड़ दिया. वे सभी मुझे सांत्वना दे रहे थे पर उनके चेहरों पर चिंता साफ़ झलक रही थी. विभाग के इंचार्ज भी केबिन से बाहर निकल आये थे और आते ही उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा था — ''बेटा, सब ठीक हो जायेगा. तुम अभी फ़्लाइट लेकर निकल जाओ, देखना, तुम्हारी मां तुम्हें देखते ही ठीक हो जायेंगी.'' तभी आत्माराम शिंदे ने उन्हें पैसों की समस्या और बैंक बंद हो जाने की बात बतायी. मैं आंसुओं से भरी धुंधली आंखों से यह देख कर एक अजीब अहसास से भर उठा कि विभाग के सभी लोगों ने ऑफ़िस से लेकर घर जाने की ज़रूरत भर के पैसे अपने पास रख कर अपने-अपने पर्स मेज़ों पर उलट दिये और सारे पैसे इकट्ठा करके एक लिफ़ाफ़े में रख कर मुझे सौंप दिये. तभी आत्माराम शिंदे ने मुझसे कहा — ''अखिलेश, जो कुछ भी है बाद में सोचना-समझना, एयरपोर्ट यहां से बहुत दूर है, हमें तुरंत निकलना होगा.'' मुझे सचमुच कुछ समझ में नहीं आ रहा था, यह भी नहीं कि एयरपोर्ट तक छोड़ने ख़ुद आत्माराम शिंदे मेरे साथ आ रहे थे.

हमारे ऑफ़िस से एयरपोर्ट तक टैक्सी का सफ़र पैंतालीस मिनट से कम नहीं था. पारस भी हमारे साथ हो लिया था. टैक्सी में बैठते ही आत्माराम शिंदे ने पैसों वाला वह लिफ़ाफ़ा मेरे हाथ से लिया और पारस की सहायता से

लघुकथा

आंखें

✍ किशन लाल शर्मा

नैना की शादी दीपक से हुई थी. दीपक एक फैक्ट्री में काम करता था. फैक्ट्री में काम करते समय दुर्घटना होने पर दीपक की दोनों आंखें चली गयीं. दीपक के अंधा होने पर नैना ने उसे कभी भी आंखों की कमी महसूस नहीं होने दी. नैना दीपक की आंखें बन गयी. जगने से सोने तक दीपक हर काम नैना की आंखों से करने लगा.

और एक दिन नैना दीपक को इस संसार में अकेला छोड़कर चली गयी. लेकिन अपनी आंखें दीपक को दे गयी थी. ताकि पति को उसके मरने के बाद किसी के आश्रित न रहना पड़े.

✉ १०३, राम स्वरूप कॉलोनी,
आगरा-२८२०१०

नोट गिनने शुरू किये. गिनती पूरी होते ही उनके चेहरे पर चिंता की लकीरें साफ़ उभर आयीं. कुल मिला कर जितने पैसे थे, वे हवाईजहाज के किराये से थोड़ा कम ही पड़ रहे थे. अभी इस नयी समस्या पर मैं कुछ सोच भी नहीं पाया था कि आत्माराम शिंदे ने टैक्सी ड्राइवर को अंधेरी के चकाला से होकर टैक्सी निकालने के लिए कहा. बाद में पता चला कि वे टैक्सी अपने घर ले गये थे. जैसे ही टैक्सी उनके घर के सामने रुकी, वे बिना कुछ कहे उतरे और लगभग भागते हुए अंदर चले गये. मुश्किल से दस मिनट में वे वैसे ही भागते हुए लौटे और टैक्सी में बैठते हुए उन्होंने ड्राइवर से तेज़ी से सीधे एयरपोर्ट चलने के लिए कहा. मैंने घड़ी पर नज़र डाली तो देखा फ़्लाइट के लिए रिपोर्ट करने का टाइम लगभग हो चला था.

एयरपोर्ट पहुंच कर वे पारस को मेरे पास छोड़ कर टिकट लेने चले गये. जब वे टिकट लेकर लौटे रिपोर्टिंग के टाइम से थोड़ा ऊपर ही हो रहा था. यह मेरी पहली फ़्लाइट थी, इसलिए मेरी चिंता और बढ़ गयी थी. उन्होंने अपना आश्वासन भरा हाथ मेरी पीठ पर रखा और मुझे एक लिफ़ाफ़ा पकड़ाते हुए कहा — ''ये बचे हुए पैसे हैं, अपने पास रख लो, पता नहीं वहां कैसी ज़रूरत पड़े.'' मैं कुछ कहता उससे पहले ही उन्होंने अपना हाथ मेरे मुंह पर रख दिया और कहा — ''बाक़ी बातें बाद में होंगी, पहले जाओ और अपनी फ़्लाइट पकड़ो.'' भरे गले से मुझसे कुछ बोला भी नहीं जा रहा था. बस, कृतज्ञता भरी आंखें लिये मैं एयरपोर्ट के अंदर चला गया.

लगभग दो घंटे की उड़ान थी. मैं ईश्वर से मां को ठीक कर देने की प्रार्थना करते हुए अनायास आज के घटनाक्रम के बारे में सोचने लगा. यह बात मेरे लिए एक बड़े आश्चर्य से कम नहीं था कि मैं इस फ़्लाइट में बैठ कर मां के पास जा रहा था. जिन लोगों से मदद की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था, वे सारे अजनबी हाथ अपनों से भी बढ़ कर मदद के लिए उठ आये थे. और आत्माराम शिंदे? अगर वे उस ट्रेनिंग में नहीं होते तो मैं इस समय सिर्फ़ चिंता करने और अपनी विवशता पर आंसू बहाने के अलावा क्या कर रहा होता? मैंने उनका दिया वह लिफ़ाफ़ा अभी भी अपने हाथ में उसी तरह पकड़ा हुआ था. सोचा खोल कर देखूं, कितने पैसे हैं उसमें? मुझे पता था टिकट के पैसे कम पड़ने के बाद उन्होंने अपने घर से पैसे लिये थे और बचे हुए पैसे मुझे पकड़ा दिये थे.

लिफ़ाफ़ा खोला तो उसमें कई छोटे-छोटे लिफ़ाफ़े और नज़र आये. मेरी उत्सुकता चरम पर पहुंच गयी और मैंने वे सभी लिफ़ाफ़े एक-एक कर निकालने शुरू किये. मैं लिफ़ाफ़े निकालता जा रहा था और मेरे हाथ पहले से ज़्यादा कांपते जा रहे थे. किसी लिफ़ाफे पर 'दूध' तो किसी पर 'अख़बार' और किसी पर 'स्कूल की फ़ीस' लिखा हुआ था. मुझसे और लिफ़ाफ़े देखे नहीं गये. उस दिन महीने की दो तारीख़ थी, कंपनी से पगार महीने की आख़िरी तारीख़ को ही मिल जाती थी. स्पष्ट था कि उनकी पत्नी ने दूध, अख़बार, किराने वाले, बच्चों की फ़ीस के नाम के अलग-अलग लिफ़ाफ़े बना कर रखे थे ताकि भुगतान में आसानी हो. मुझे एयरपोर्ट समय पर पहुंचाने की चिंता में आत्माराम जी के पास इतना भी समय नहीं बचा था कि वे उन लिफ़ाफ़ों को खोल कर उनमें से पैसे एक जगह करके ले आते. जल्दबाजी में वे अपनी पत्नी से सारे लिफ़ाफ़े ही मांग कर ले आये थे. कितना जानते थे वे मुझे? सिर्फ़ मुस्कानों के आदान-प्रदान भर का ही तो रिश्ता था. मैं उन लिफ़ाफ़ों को हाथ में लिये था और अवाक सा उन्हें देख रहा था. अचानक मैंने उन्हें मुट्ठी में भींचकर छाती से लगा लिया और मेरी आंखों से अविरल आंसू बहने लगे. मेरी बगल में बैठा सहयात्री मुझे हैरत से देखने लगा था. मैंने उसकी परवाह किये बिना आंसुओं को तब तक बहने दिया जब तक वे थक कर अपने आप नहीं रुक गये.

इस समय मैं आइसीयू में मां के सिरहाने बैठा हूं. दो दिन से कोमा में पड़ी मां को अभी थोड़ी देर पहले ही होश आया है. सारी आशाएं छोड़ चुके डॉक्टरों ने अब उन्हें ख़तरे से बाहर बताया है, सभी लोग इसका श्रेय मेरे यहां पहुंच जाने को दे रहे हैं. मां ने मेरा एक हाथ कस कर पकड़ा हुआ है. दूसरे हाथ से उसका सिर सहलाते हुए मैं सोच रहा हूं किसी भी शहर को उसकी समग्रता में समझना कितना कठिन है. शहर उसके रहने वालों से बनता है और शहर के बारे में हमारी धारणाएं वही लोग बनाते हैं जिनके हम संपर्क में आते हैं. दूसरों के कड़वे-मीठे अनुभव शहर की छवि तो बना सकते हैं, पर उसकी अस्मिता नहीं. मुंबई के समुद्र का खारापन अपनी जगह है, पर उसकी धरती के नीचे मीठे पानी के सोते भी बहते हैं. बस, सब अनुभव की बात है.

❖❖❖

आमने-सामने

'इस सिलसिले का कोई अंत नहीं!'

✍डॉ. रमाकांत शर्मा

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने-सामने'. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नी सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रजाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर रवांल्टा, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान 'बातिश', डॉ. शिव ओम 'अंबर', कृष्ण सुकुमार, सुभाष नीरव, हस्तीमल 'हस्ती', कपिल कुमार, नरेंद्र कौर छाबड़ा, आचार्य ओम प्रकाश मिश्र 'कंचन', कुंवर प्रेमिल, डॉ. दिनेश पाठक 'शशि', डॉ. स्वाति तिवारी, डॉ. किशोर काबरा, मुकेश शर्मा , डॉ. निरुपमा राय, सैली बलजीत और पलाश विश्वास से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है डॉ. रमाकांत शर्मा की आत्मरचना.

अरविंद जी से 'आमने-सामने' के लिए लिखने का स्नेह भरा आग्रह मिलने के बाद आज जब मैं लिखने बैठा हूं तो समझ में आ रहा है कि अपने ख़ुद के बारे में लिखना जितना आसान लगता है, उतना है नहीं. जीवन के इस मोड़ पर, पीछे मुड़ कर देखना ज़िंदगी के पन्नों पर रखे समय के पेपरवेट को हटाने जैसा है. बिखरे पन्नों को समेटना और उन्हें सिलसिलेवार लगाना तो कठिन है ही. क्या छोड़ना है और क्या लेना है, यह भी एक दुष्कर काम है.

मेरा जन्म राजस्थान के शहर भरतपुर में हुआ था जो घने पक्षी विहार के कारण विश्वविख्यात है. लेकिन, पिताजी की नौकरी अलवर में होने के कारण एक माह की उम्र में ही अलवर आ गया. यह वह शहर है जो बचपन से किशोरावस्था तक के तमाम अनुभवों का आधार और साक्षी है और यही कारण है कि आज भी सपनों में इस शहर में घूम आता हूं. पिछले बयालीस वर्षों में दो-तीन बार वहां जाकर उन क्षणों को फिर से जीने की हसरत पूरी करने का प्रयास भी कर चुका हूं.

इन अनगिनत यादों के बीच मुझे अपने भीतर का वह बच्चा याद आता है जो शुरू से ही बहुत संवेदनशील रहा है. मुझे याद है, किसी भी छोटी सी बात या घटना से मैं बहुत जल्दी विचलित हो जाता था. बहुत दिनों तक वह बात मस्तिष्क में घूमती रहती थी और मन ही मन मैं उसके बार में बेचैन हो जाने की हद तक सोचता रहता था. अगर मेरे ख़ुद के साथ कुछ घट जाता या किसी की कोई बात मन में चुभ जाती तो फिर कई दिनों का चैन और कई रातों की नींद उड़ जाती. विशेषकर न मैं अपना अपमान सह पाता और न ही अपने सामने किसी और को अपमानित होते देख पाता था. यही हाल तब होता जब अन्याय देखना या सहन करना होता. ऐसे समय कुछ न कर पाने की विवशता मन को बहुत सालती. फ़िल्मों के भावुक दृश्य या फिर किसी रचना के दिल छू लेने वाले अंश बहुत जल्दी दिल को

पिघला देते और अनायास आंखें भर जातीं. ऐसे कई दोस्त थे, जिनकी आर्थिक स्थिति दयनीय थी. मुझे याद है जिस दिन ऐसे ही एक दोस्त ने बहुत ख़ुश होकर जब यह बताया कि आज उसने मिर्च की चटनी से नहीं, सब्ज़ी से खाना खाया है तो मैं अंदर तक हिल गया था. किसी की विदाई भी मुझे बहुत द्रवित करती. पारिवारिक शादियों में सम्मिलित होता तो विदाई के समय या तो इधर-उधर हो जाता या फिर चुपचाप खड़ा कहीं रोता रहता. इन भावनाओं से जुड़ी घटनाओं को यदि क़लमबद्ध करने लगूं तो अनगिनत पन्ने रंग जायें. यह संवेदनशीलता बड़े होने के साथ-साथ मन में गहरी जड़ें जमाती रही.

मेरे दादा जी का निधन तब हो गया था जब पिताजी सिर्फ़ ग्यारह वर्ष के थे. निश्चित रूप से उन्होंने ज़िंदगी को पटरी पर लाने के लिए कड़ा संघर्ष किया. आज भी जब वे उस समय की स्थिति का बयां करते हैं तो मन न जाने कैसा-कैसा होने लगता है. दादी को मैंने बहुत क़रीब से देखा है. उन्होंने छोटे-छोटे बच्चों को पालने के लिए विडो-होम में काफ़ी समय तक नौकरी की. अचानक विडो-होम बंद कर दिये जाने के बाद वे हमारे साथ रहने आ गयी थीं. तब तक पिताजी की सर्विस लग चुकी थी. दादी से मैंने अनगिनत कहानियां सुनी हैं. हर दिन वे नयी कहानी सुनाती थीं क्योंकि उन्हें पढ़ने का ज़बरदस्त शौक़ था और इस कारण उनके पास क़िस्से-कहानियों का न ख़त्म होने वाला भंडार था. अपने घर के पास की एक दुकान से मैं उनके पढ़ने के लिए किराये पर किताबें लाता और वे उन्हें एक-दो दिन में या कभी-कभी तो कुछ घंटों में ही पढ़ डालतीं. उन्हीं से मुझे भी पढ़ने का शौक लगा. जो किताबें उनके लिए आतीं, उन्हें मैं भी पढ़ डालता. उस समय न जाने कितनी ही किताबें पढ़ डालीं होंगी. पढ़ने का चस्का ऐसा लगा कि उसके चक्कर में कई बार डांट भी खायी. पर, दादी हमेशा मेरा पक्ष लेतीं. फ़ायदा यह रहा कि उस छोटी उम्र में ही मैंने अनगिनत पॉकेट बुक्स से लेकर चंद्रकांता संतति, भूतनाथ और कई जासूसी किताबों के साथ-साथ शरत चंद्र, विमल मित्र, प्रेमचंद, रवींद्र नाथ टैगोर आदि कई नामी गिरामी लेखकों की चर्चित रचनाओं के अलावा प्रख्यात विदेशी लेखकों की क्लासिक रचनाओं के हिंदी अनुवाद भी पढ़ डाले, पढ़ने का यह शौक़ अब तक बना हुआ है.

परिवार में लिखने-पढ़ने का अच्छा माहौल था. मेरे ताऊजी श्री त्रिभुवन प्रसाद शर्मा बहुत अध्ययनशील थे. अंग्रेज़ी, हिंदी और उर्दू तीनों ही भाषाओं पर उनका बहुत अच्छा अधिकार था. मोती से अक्षरों में लिखे उनके व्यक्तिगत पत्रों को साहित्यिक रचनाओं की श्रेणी में आसानी से रखा जा सकता था. उक्त तीनों भाषाओं में समान अधिकार रखने वाले मेरे पिताजी भी अपने ऑफ़िस की तमाम व्यस्तताओं के बावजूद कविता, कहानी, ग़ज़ल और लेख आदि लिखते रहते थे. उनका एक प्रबंध काव्य ''मधुल'' नाम से स्थानीय अख़बार में सिलसिलेवार प्रकाशित हुआ था. राजस्थान विश्वविद्यालय के व्यवसाय प्रशासन विभाग के अध्यक्ष पद से सेवानिवृत्त मेरे चाचाजी डॉ. कमलाकांत शर्मा ने वाणिज्य और उससे संबंधित विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखने के अलावा कहानियां, लेख और नाटक भी लिखे हैं. उनके कई नाटकों का मंचन भी हुआ है. ये तीनों मेरी प्रेरणा के मूल स्त्रोत रहे हैं.

उस समय यही कोई ग्यारह-बारह साल की उम्र रही होगी जब बच्चों की मशहूर पत्रिका ''पराग'' ने एक कविता प्रतियोगिता आयोजित की थी. उसमें भेजी मेरी कविता को प्रथम पुरस्कार मिला तो मेरा बाल मन झूम उठा. पुरस्कार में महाभारत की कहानियां, पंचतंत्र की कहानियां, जातक कथाएं, अकबर-बीरबल के क़िस्से और बेताल-पचीसी सहित दस पुस्तकों का एक सेट मिला था. इससे जहां इन रोचक और शिक्षाप्रद पुस्तकों को पढ़ने का अनायास अवसर मिला. वहीं यह पुरस्कार विशेषकर कविताएं लिखने के लिए प्रेरणा का अनंत स्त्रोत बन गया. बाद में कुछ कविताएं स्कूल और कॉलेज की पत्रिकाओं के अलावा साप्ताहिक हिंदुस्तान जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छपीं और कुछ पुरस्कृत भी हुईं, तो लिखने का उत्साह बना रहा. मंच से कविताएं पढ़ने के मौक़े भी मिलते रहे.

मुझे अब तक याद है, एक दिन शाम को रसोईघर में बैठे, हम सब खाना खा रहे थे. मम्मी खाना परोसते समय पिताजी को घर में दिन भर की घटी छोटी-बड़ी घटनाओं की जानकारी भी देती जा रही थीं. पिताजी ने उनसे हंस कर कहा था — ''तुम्हारे पास दिन भर की इतनी सारी बातें सुनाने को रहती हैं कि घर का अख़बार निकाला जा सकता है.'' बात हंसी में आयी गयी हो गयी. पर मेरे मन में घूमती रही और उसकी परिणति मेरी पहली

कहानी ''घर का एक अख़बार'' के जन्म के रूप में हुई. घर में कहानी सभी को बहुत पसंद आयी और उसे पराग में छपने के लिए भेज दिया गया. वहां से स्वीकृति का पत्र मिलना सुखद आश्चर्य से कम नहीं था. उस छोटी सी उम्र में पराग जैसी स्तरीय और लोकप्रिय पत्रिका में मेरी कहानी छपी और प्रशंसा के कुछ पत्र भी मिले तो कहानी लिखने के प्रति मेरा रुझान बनता चला गया. उसके बाद मैं बच्चों के लिए कहानियां लिखता रहा जो उस समय की बच्चों की लोकप्रिय पत्रिकाओं - पराग, नंदन, बालक आदि के अलावा नवभारत टाइम्स, धर्मयुग आदि में भी छपती रहीं. इस संबंध में एक वाक़या याद आ रहा है. ''पराग'' में मेरी एक कहानी ''एक गेंद, तीन शिकार'' छपने के क़रीब बीस-बाईस साल बाद मैंने उसे ''विदाउट रिज़र्व'' में छपने के लिए दे दिया, कहानी छपी तो बिहार से एक सज्जन ने संपादक को पत्र लिखा कि उसने बचपन में हूबहू यही कहानी पराग में पढ़ी थी. चूंकि उसे लेखक का नाम याद नहीं आ रहा था इसलिए वह यह पता लगाना चाहता था कि किसी ने वह कहानी अपने नाम से तो नहीं छपवा दी. इत्तफाक़ से उस कहानी की स्वीकृति का पत्र मेरे पुराने काग़ज़ों में निकल आया और बात वहीं ख़त्म हो गयी. पर, मुझे यह बात रोमांचित कर गयी कि मेरी एक कहानी बीस से ज़्यादा वर्ष बाद भी किसी पाठक को हूबहू याद थी. एक लेखक को इससे बड़ा संतोष और पुरस्कार क्या मिल सकता है?

बचपन में परिवार के और आसपास के बच्चे मिल कर नाटक खेलते थे. चादरों के पर्दे बना कर खेले गये ये नाटक परिवार और मुहल्ले के क़रीब बीस-पच्चीस लोग बहुत रुचि से देखते और हम बच्चों का उत्साह बढ़ाते. नाटकों के अलावा हर वर्ष हम पूरी रामलीला भी खेलते, अभिनय के अलावा मैं उसकी पटकथा और संवाद भी लिखता था. सभी बड़ों से मिलनेवाली सराहना और उनके आशीर्वाद ने लेखन के प्रति निरंतर रुचि जगाये रखी.

मैंने ग्यारहवीं यानि हायर सेकंड्री की परीक्षा साढ़े पंद्रह वर्ष की उम्र में पास कर ली थी. उसी वर्ष गर्मियों की छुट्टियों में दादी का निधन हुआ. उनके निधन से तो मैं दु:खी था ही, इधर यह मालूम हुआ कि उसी वर्ष बने इस नियम के कारण राजस्थान के किसी भी कॉलेज में मुझे प्रवेश नहीं मिल सकता था कि इसके लिए कम से कम सत्तरह वर्ष की उम्र होनी चाहिए. दो वर्ष का मूल्यवान समय बचाने के लिए मैं उत्तर प्रदेश के मेरठ शहर में पढ़ने चला गया. इंटरमीडिएट वहां से करने के बाद एम. ए. तक के चार वर्ष मथुरा में पढ़ा. जब मैंने एम. ए. (अर्थशास्त्र) में प्रवेश लिया तो मेरे हिंदी के प्रोफ़ेसर डॉ. शत्रुघ्न भार्गव बहुत नाराज़ हुए और उन्होंने मुझे काफ़ी समझाया कि मुझे हिंदी में एम. ए. करना चाहिए. वे मेरे लेखन से बहुत ख़ुश थे और कॉलेज की पत्रिका के हिंदी खंड के संपादन में सहयोग लेते रहे थे.

इतने वर्षों तक घर से बाहर अकेले रहकर पढ़ने से जहां अपने घर की अहमियत का शिद्दत से अहसास हुआ. वहीं दुनियां को और दुनियां में रहनेवालों को समझने में बहुत मदद मिली. उस समय की बहुत सी घटनाएं और अनुभव मेरी बहुत सी कहानियों का आधार बने. तब टेलीफ़ोन विलासिता की वस्तु थी. गर्मियों की छुट्टियों में या अन्यथा जब भी मित्रवर्ग से दूर होते तो पत्राचार के माध्यम से एक-दूसरे के संपर्क में बने रहते. मुझे याद है, हम एक-दूसरे को बहुत लंबे-लंबे पत्र लिखते थे. इनमें व्यक्तिगत बातों के साथ-साथ पढ़ी हुई किताबों के बारे में उद्धरण सहित तब्सिरा भी होता, देखी गयी फ़िल्मों पर अपनी राय भी होती और फ़िलॉसफ़ी का पुट भी होता. पत्र लिखने और पढ़ने का अनोखा आनंद तो मिलता ही, लिखने-पढ़ने का अभ्यास और उत्साह बना रहा. काश, वे पत्र सुरक्षित रखे होते.

नौकरी की शुरुआत जयपुर कॉलेज में अर्थशास्त्र पढ़ाने से हुई, उसके बाद केंद्र और राज्य सरकार के संयुक्त स्वामित्व वाले राजस्थान स्टेट एग्रो इंडस्ट्रीज कॉर्पोरेशन में लगभग दस वर्ष की सेवा करते हुए प्रशासनिक अधिकारी के पद का भी काम संभाला. इसी दौरान वित्तीय प्रबंधन में एम. कॉम. और एल. एल. बी. की डिग्रियां हासिल की. बाद में देश की शीर्ष संस्था भारतीय रिज़र्व बैंक से जुड़ने का सौभाग्य मिला. सीएआइआइबी और पीएच. डी. (कॉमर्स) रिज़र्व बैंक की सेवा में रहते ही करने का मन बना.

भारतीय रिज़र्व बैंक के राजभाषा विभाग से जुड़ना हिंदी के माहौल से जुड़ना था. यहीं प्रसिद्ध लेखक और व्यंग्यकार डॉ. सुरेश कांत का साथ मिला. बहुत अच्छा लिखने वाले और लगातार छपनेवाले कई अन्य मित्रों के साहचर्य ने मुझे भी लिखने के लिए अभिप्रेरित किया. बच्चों के लिए कहानियां लिखनेवाला मैं बड़ों के लिए लिखी

जानेवाली कहानियों जैसा कुछ लिखने लगा. पत्र-पत्रिकाओं में वे छपीं और कुछ अखिल भारतीय स्तर पर पुरस्कृत हुईं तो लिखने का उत्साह बना रहा. इसी कड़ी में वर्ष २०११ के लिए ''कथाबिंब'' द्वारा पाठकों के मतों के आधार पर प्रदत्त ''कमलेश्वर स्मृति कथा पुरस्कार'' मिलना बहुत प्रेरक और उत्साहवर्धक है.

बच्चों की कहानियों को छोड़कर कुल मिलाकर चालीस के आसपास ही कहानियां लिखी हैं मैंने. इसका कारण यह रहा कि कुछ घटनाओं ने तो कहानियों का रूप लेने में दस-पंद्रह वर्ष से भी अधिक का समय ले लिया. सिर्फ़ लिखने के लिए जब मैं लिखने बैठा तो या तो लिखा नहीं गया या फिर रचना उखड़ी-उखड़ी लगी. इसलिए मैंने तय किया कि जब लगेगा कि लिखे बिना रहा नहीं जायेगा, तभी लिखूंगा. यह सच है कि कहानियों में कहीं न कहीं आसपास घटी घटनाओं का अंश मौजूद रहता ही है. हां, कहानी कहने के लिए कल्पना का सहारा लिये बिना भी काम नहीं चल पाता.

प्रख्यात साहित्यकार डॉ. दामोदर खड़से और डॉ. सुरेश कांत ऐसे मित्र हैं जिन्होंने मुझे कहानियां लिखने के लिए तो अभिप्रेरित किया ही, अपने अनुभवों से नयी दिशा भी दी. प्रसिद्ध रंगकर्मी, नाटककार और साहित्यकार श्री रमेश राजहंस ने मेरी रचनाओं को सदैव अपनी बेबाक टिप्पणियों से नवाज़ा है. उनकी स्वस्थ आलोचनाओं और सराहनाओं ने मुझे निरंतर प्रोत्साहित किया है. आकाशवाणी, मुंबई से कहानियों के नियमित प्रसारण ने भी मुझे लिखते रहने के लिए प्रेरित किया है. साथ ही, पाठकों/श्रोताओं से मिलनेवाले फ़ोन, पत्रों और यहां तक कि ढूंढ़ते हुए मिलने चले आने के प्रकरणों ने एक ज़िम्मेदारी का भी अहसास कराया है.

मेरे पिताजी श्री आर. पी. शर्मा ''महर्षि'' जो हिंदी ग़ज़ल और इल्मे-उरूज के जाने-माने प्रकांड विद्वान हैं, मेरी ज़्यादातर कहानियों के पहले पाठक रहे हैं और लापरवाही से यहां-वहां पड़ी पांडुलिपियों को अपने पास संभाल कर रखने का काम करते रहे हैं. जब कहानियों का पहला संकलन 'नया लिहाफ़' निकालने का विचार बना तो उनके आशीर्वाद के साथ-साथ उनका यह श्रम भी बहुत काम आया. इस संकलन को अपेक्षा से अधिक प्रतिसाद मिला. नवनीत के संपादक विश्वनाथ जी और प्रसिद्ध कहानीकार डॉ. सूर्यबाला जी से सराहना मिलना बहुत प्रेरक और सुखद रहा.

कहानियों के अलावा कुछ व्यंग्य भी लिखे हैं. निश्चित रूप से इसके पीछे डॉ. सुरेश कांत और जयपुर से निकलने वाली पत्रिका ''व्यंग्य वार्षिकी'' की संपादक सुश्री आदर्श शर्मा का हाथ रहा है. आदर्श शर्मा ने तो एक व्यंग्य कहानी भी लिखवा ली.

साहित्यिक लेखन के साथ-साथ बैंकिंग और उससे संबंधित विषयों पर लेखन कार्य निरंतर जारी रहा. आइ. बी. ए. बुलेटिन, आइ. आइ. बी. ज़र्नल, योजना, बैंकिंग चिंतन-अनुचिंतन, सीए. बी. कॉलिंग जैसी प्रतिष्ठित प्रोफ़ेशनल पत्रिकाओं के अलावा विभिन्न बैंकों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा निकाली जा रही पत्रिकाओं में उक्त विषयों पर नियमित रूप से लेखन प्रकाशित होते रहे हैं. हिंदी में बैंकिंग विषयों पर मौलिक लेखन के लिए भारत सरकार के वित्त मंत्रालय और गृह मंत्रालय से पुरस्कार भी मिले.

भारतीय रिज़र्व बैंक की हिंदी में पूर्णतः बैंकिंग विषयों को समर्पित प्रोफ़ेशनल पत्रिका ''बैंकिंग चिंतन-अनुचिंतन'' के प्रवेशांक से लेकर सात वर्ष तक उसका संपादन करना और फिर बाद में सेवानिवृत्ति तक उसके संपादक-मंडल से जुड़े रहना मेरे लिए सुखद और बेशक़ीमती अनुभव रहा. इसने संपादकीय दृष्टि विकसित करने का अनमोल अवसर देने के साथ-साथ ज्ञानार्जन का भी अकूत अवसर दिया.

मेरी पहली पुस्तक ''व्यावसायिक संप्रेषण'' को इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स (इंस्टीट्यूट ऑफ बैंकिंग एंड फाइनेंस) द्वारा पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकार किया जाना जहां मेरे लिए सम्मान की बात थी. वहीं प्रोत्साहनपरक भी थी. दूसरी पुस्तक ''कार्ड बैंकिंग'' पर महामहिम राष्ट्रपति जी से पुरस्कार मिलना गौरव की बात थी. तीसरी पुस्तक ''वित्तीय समावेशन'' को वर्ष २०१०-२०११ के लिए महाराष्ट्र राज्य साहित्य अकादमी से प्रथम पुरस्कार (होमी जहांगीर भाभा पुरस्कार) मिलना बहुत प्रेरक और उत्साहवर्धक है. चौथी पुस्तक ''बैंकिंग-विविध आयाम'' को मिली सराहना ने लिखने के लिए और प्रेरित किया. पांचवी पुस्तक ''ब्याजमुक्त बैंकिंग और इस्लामी वित्त व्यवस्था'' इस विषय पर हिंदी में लिखी अब तक की पहली और एकमात्र पुस्तक है. इसे बैंकिंग विषयों पर हिंदी

ग़ज़लें

✍ डॉ. शशि श्रीवास्तव

हवा के साथ चलना आ गया है,
हमें भी रुख़ बदलना आ गया है ।
मुझे जो ठोकर लगी रास्ते में,
ज़माने को संभलना आ गया है ।
वो जिसका लहजा था अमृत जैसा,
उसे भी ज़हर उगलना आ गया है ।
रहो होशियार अब दरिया की मौजों,
किनारों को उछलना आ गया है ।
करम है ये बरसती बूंदों का,
हमें बारिश में जलना आ गया है ।
किसी के झूठे वादों पर भी 'शशि',
मेरे दिल को बहलना आ गया है ।

२४९३–बी, गोकुलगंज, महू,
जि. इंदौर (म. प्र.)- ४५३४४१.
मो.-९२००११२७२२

✍ राजेंद्र निशेश

मेरी इबारत में अब हाशिया कहीं नहीं,
इस शहर में लगता है सरफिरा कहीं नहीं!

बन कर पत्थर मासूम दिल को तोड़ डाला,
दर्द में डूबता उस-सा तन्हा कहीं नहीं ।

बिगड़े हालात का ऐसा है आलम शहर में,
सभी लुटे हैं समझते पर लुटा कहीं नहीं ।

इन मख़मली उजालों की कैद में जो शख़्स,
बोलता वही इससे बड़ी सज़ा कहीं नहीं ।

साये अपने को ढूंढ़ती फिरती है धूप,
अंधेरी बस्ती में चिराग दिखा कहीं नहीं ।

२६९८, सेक्टर ४०-सी,
चंडीगढ़-१६००३६

में मौलिक लेखन की भारतीय रिज़र्व बैंक की योजना के लिए लिखी गयी अब तक की साठ से अधिक पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ निरूपित किया गया है. एक नयी पुस्तक ''प्रबंधन-विविध आयाम'' के फ़ाइनल प्रूफ़ पढ़े जा चुके हैं और यह शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेगी. नया कहानी संग्रह ''अचानक कुछ नहीं होता'' भी प्रकाशन के अंतिम चरण में है.

भारतीय रिज़र्व बैंक के बैंकिंग परिचालन और विकास विभाग के महाप्रबंधक पद से सेवानिवृत्त होने के बाद पढ़ने-लिखने के लिए पहले से अधिक समय मिल रहा है. कहानियां, व्यंग्य और लेख लिखने के अलावा हाल ही में विश्व के प्रसिद्ध कहानीकारों की क्लासिक कहानियों का अनुवाद करना शुरू किया है. जिन दो कहानियों का अर्थात ऑस्कर वाइल्ड की कहानी ''हैपी प्रिंस'' और जेम्स जोएस की कहानी ''ए लिटिल क्लॉउड'' का अनुवाद किया. उन दोनों को ही दो विभिन्न स्तरीय पत्रिकाओं में प्रकाशन के लिए स्वीकार कर लिये जाने से इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए बल मिला है.

सच कहूं तो जहां पठन ने जीवन को समझने में सहायता की है, वहीं लेखन ने मन को हल्का करने में अदभुत सहयोग दिया है. हर कोई अपने-अपने तरीक़े से अपने मन की बात कहना चाहता है. अपने अनुभवों, अपने सुख-दुःख को बांटना चाहता है. कहानी इसके लिए एक सशक्त माध्यम है. रोज़मर्रा की ऐसी कोई भी बात जो दिल को छू जाती है, कहानी बन जाती है. मुझे पता है, जब भी कोई घटना झकझोरेगी, एक और कहानी आकार ले लेगी. मुझे यह भी अच्छी तरह पता है कि न तो सीखने की कोई उम्र होती है और न ही अनुभवों को बांटने की. इसलिए सीखने और अनुभवों को साझा करने का यह सिलसिला शायद ही कभी ख़त्म हो.

४०२, श्रीरामनिवास, टट्टा निवासी हाउसिंग सोसायटी, पेस्तम सागर रोड नं.३
चेंबूर, मुंबई-४०००८९
मो. ९८३३४४३२७४.

सागर-सीपी

"नाटक आपको साहित्य से जोड़ता है!"

✍ राजेंद्र गुप्ता

(प्रख्यात फिल्म अभिनेता, लेखक व नाटककार राजेंद्र गुप्ता से सुश्री मधु अरोड़ा की 'कथाबिंब' के लिए बातचीत)

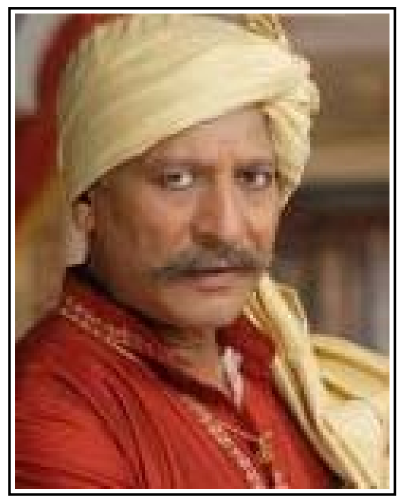

पानीपत में जन्म, कुरुक्षेत्र वि.विद्यालय से ग्रेजुएशन. बाद में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा दिल्ली में प्रवेश लिया (१९७२ बैच).

राजेंद्र गुप्ता १९८५ में परिवार के साथ बंबई आये और टी.वी. सीरियलों में काम करने लगे. अनेक फ़िल्मों में भी अभिनय किया. 'लगान' में चंपानेर के मुखिया की भूमिका से अधिक चर्चित हुए.

❋ आपके लिए नाटक क्या है?

आज मैं जो कुछ भी हूं, नाटक की वजह से ही हूं. मैं जब नाटक सीखने एन. एस. डी. गया तो वहां नाटक को सीखा. उसे समझा और जब मंच पर नाटक किये तो मुझे लगा कि मैं नाटक के लिए ही बना हूं और सच कहूं तो वहां एक तरह से ख़ुद को पाया था. एन. एस. डी. में नाटक सीखने के दौरान ही कहानी और निर्देशन की समझ आयी. अपनी शिक्षा के दौरान मैं विज्ञान का छात्र रहा, साहित्य का छात्र तो कभी रहा नहीं. सो नाटक-कला को सीखते समय ही साहित्य को समझने की समझ आयी. धीरे-धीरे नाटक करने में मज़ा आने लगा और फिर तो नाटक में इस तरह डूबता चला गया कि उससे बाहर आना संभव ही नहीं था. अब जब से मैं सीरियल और फ़िल्में करने लगा हूं तो नाटक और भी ज़रूरी लगने लगा है. नाटक आपको साहित्य से जोड़ता है. जब तक कला साहित्य से नहीं जुड़ेगी, वह आपको इन्वॉल्व नहीं कर सकती. नाटक का महत्वपूर्ण तत्व लेखन है लेकिन आज के आपाधापी के दौर में वह ग़ैर ज़रूरी हो गया है. हां, तो मैं कह रहा था कि आज मेरा जो व्यक्तित्व है, वह नाटक के कारण है. मेरे व्यक्तित्व को बनाने, संवारने का श्रेय नाटक को जाता है.

❋ आप तो संपन्न परिवार से हैं फिर आपने संघर्ष का रास्ता क्यों चुना?

कोई भी जानबूझकर संघर्ष का रास्ता नहीं चुनता. आप करते बहुत सारे काम हैं, पर अपनाते वही हैं जिसमें आपको मज़ा आता है. मैंने भी बहुत ग़लतियां कीं, बहुत भटका, बहुत तथाकथित संघर्ष किया, पर घूम-फिरकर जब नाटक में आया तो मुझे असली मज़ा आया इसमें. दूर से कई चीज़ें आसान लगती हैं, वह तो उस क्षेत्र में आने पर पता चलता है कि कितने मुश्किलात हैं इधर. आपको तो पता है कि इंसानी नेचर ऐसा नहीं होता कि वह सुविधाओं को छोड़ दे. मैं मानता हूं कि संघर्ष जैसा कोई शब्द है ही नहीं. जब हम किसी काम को अपनी मर्ज़ी से चुनते हैं तो

संघर्ष किस बात का? लेकिन इंसान ज़बर्दस्ती ग्लोरिफाई करता है अपने संघर्ष को. अंततः तो यह आपका अपना मज़ा ही है. माना, फ़िल्मों में पैसा है, शोहरत है लेकिन आपका ताल्लुक़ आंतरिक सुख से है. आंतरिक सुख तो एक मृगतृष्णा है, उसकी तलाश में हम नये-नये काम करते हैं और अपनी प्रतिभा को तराशते हैं. बेहतर से बेहतर काम करने की कोशिश करते हैं. हरेक का अपना तरीक़ा है ख़ुद को अभिव्यक्त करने का. अपने सुख के लिए काम की तलाश को आप संघर्ष कह लीजिए या कुछ और. अंततः तो यह आपका और सिर्फ़ आपका अपना मज़ा है.

❋ आप मुंबई किस प्रयोजन से आये थे ?

मैं भी उन हज़ारों लोगों में से हूं जो काम की तलाश में मुंबई आते हैं. नाटक तो मैं दिल्ली में भी करता था लेकिन मुंबई में सिनेमा भी था और नाटक भी था. एक बात यह भी थी कि जब हम नाटक करते थे, तो नाटक के लिए ही नाटक करते थे. परंतु इंसान आंतरिक उन्नति के साथ-साथ बाहरी उन्नति भी तो चाहता है न! दिल्ली में इस तरह की संभावना दिखती नहीं थी. दिल्ली में नाटक करना मेरी तात्कालिक स्थितियां थीं. मैं उन दिनों पानीपत में रहता था तो दो सौ किलोमीटर की दूरी थका देती थी. ऐसे में लगता था कि यह प्रोडक्टिव नहीं है. मुझे लगता था कि मैं किसी लायक़ नहीं हूं. मेरे साथ एक दिक़्क़त थी और अभी भी है कि कोई मुझे लंबे समय तक पकड़कर नहीं रख सकता था. मुझे महसूस हुआ कि मैं नाटक के लिए ही बना हूं और बेहतरी के लिए मुंबई शिफ़्ट कर लिया. सोचा कि जब यही करना है तो जो भी होगा, देखा जायेगा. जब शिफ़्ट करना ही है तो क्यों न मुंबई जाया जायेगा. मेरे लिए दिल्ली/मुंबई बसना एक ही बात थी. सो इस तरह पत्नी वीना और छोटे-छोटे दो बच्चों के साथ मुंबई चला आया. अकेला कभी नहीं गया. अपने परिवार को हमेशा अपने साथ रखा.

❋ संघर्ष आपकी पीढ़ी को भी करना पड़ा था और संघर्ष आज की पीढ़ी को भी करना पड़ रहा है. इन दोनों संघर्षों में आप क्या फ़र्क़ पाते हैं?

मैंने इस पर ग़ौर से स्टडी नहीं की है. संघर्ष बड़ा व्यक्तिगत-सा होता है. संघर्ष करना इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति का नेचर, ज़रूरतें और ख़्वाब क्या हैं? संघर्ष यह भी है कि एक नौकरी मिल जाये और रोज़ी-रोटी का जुगाड़ हो जाये. संघर्ष यह भी है कि फ़िल्मों में, सीरियलों में रोल चाहिए. इसके लिए आप फ़ोटो खिंचायेंगे, फ़ोटो सेशन करायेंगे. दरअसल

किसी भी कार्य में हमारा पारिवारिक माहौल बहुत काम करता है. हमारे रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान के ढंग से पारिवारिक पृष्ठभूमि सामने आती है. इंसान की हर चीज़ बहुत व्यक्तिगत होती है. यह अलग बात है कि हर चीज़ को जनरलाइज़ करने के लिए हम कुछ भी बोल जाते हैं. अब रही बात पहले की पीढ़ी और आज की पीढ़ी के संघर्षों में फ़र्क़. तो मधुजी, मेरी पीढ़ी के लोग काफ़ी साल पहले ही मुंबई आ गये थे और मैं एनएसडी से उत्तीर्ण होकर काफ़ी साल बाद मुंबई आया था. मुझे सोचना पड़ता था कि मुझे मुंबई जाना है. एक तरफ मुंबई जैसा शहर आपको जितना आकर्षित करता है, उतना ही डराता भी है. सो पत्नी के विचार-विमर्श करके ही मुंबई आया. पत्नी के समर्थन के बिना तो बिल्कुल भी नहीं आता. हां, यह बात ज़रूर थी कि मुझे खाने-पीने के इंतज़ाम की चिंता नहीं थी. उस सबकी व्यवस्था आराम से हो जाती थी. मगर, आज एन एस डी का बच्चा बहुत जल्दी मुंबई आ जाता है. इसका मतलब है कि टी वी के कारण इतनी ओपनिंग हो गयी है कि संघर्ष कम हो गया है. आपके सीनियर साथी आपके संघर्ष को कम करते हैं. वे आपके लिए सीनियर एंकर होते हैं. वे आपका मार्गदर्शन करते हैं. हमारे समय में ऐसा नहीं था. एन एस डी से पास करके छात्रों को अकेले आना होता था और अकेले संघर्ष करना होता था. कोई मार्गदर्शन करनेवाला नहीं होता था. उस समय संघर्ष तो थे पर रास्तों का पता नहीं होता था कि किस राह पर चलकर मंजिल पाना है.

❋ आप अपने संघर्ष को किस तरह तरह देखते हैं?

आप तो जानती हैं कि हर व्यक्ति की व्यक्तिगत

तलाश है. कला में रोज़ी-रोटी पाना मुश्किल होता है और यह मुश्किल बनी रहती है. यह व्यक्ति पर निर्भर होता है कि वह किस बेहतर की तलाश में है. फ़िल्मों, सीरियलों में जितने अवसर बढ़ रहे हैं, डिमांड भी बढ़ रही है तो आपसी प्रतिस्पर्धा भी बढ़ रही है. सबको अपने क्षेत्र में काम करना आता है लेकिन इस चक्रव्यूह को कौन तोड़े? जो इस चक्रव्यूह को तोड़ने में माहिर है, वह आगे बढ़ जाता है. तो यह सब संघर्ष ही है और चलता रहेगा. यह बात अलग है कि कोई संतुष्ट हो जाता है और कोई इस संतुष्टि को लगातार तलाशता है. मैं अपने काम से कभी संतुष्ट नहीं होता बल्कि लगता रहता है कि कुछ कमी है. जब मैं मुंबई आया था तो मारुति कार लेकर आया था. तो इस बात पर लोग हंसते भी थे और जलते भी थे. लेकिन मेरा जो संघर्ष तब था, वही आज भी है. हां, वे लोग बहुत आगे बढ़ गये, पर मैं वही हूं. जिन्होंने मुझे शुरू से देखा है, वे जानते हैं कि मैं वही हूं, वहीं हूं.

❋ आप नाटकों, फ़िल्मों और सीरियलों से गहराई से जुड़े हैं, किस विधा में आप ख़ुद को सहज पाते हैं?

दरअसल, सहज महसूस करना कोई मायने नहीं रखता. आपको पता है कि नाटकों, फ़िल्मों और सीरियलों के अलग-अलग अनुभव, अलग-अलग कारण और अलग-अलग सुख हैं. हम सिनेमा इसलिए करते हैं ताकि हमारा काम ज़्यादा लोगों तक पहुंचे और नाम भी पहुंचे और उसी के ज़रिए फाइनेंशियल इमेज पहुंचती है. हमारी व्यावसाकि इमेज बन जाती है. यह इसका एक पहलू है. हम सीरियल तब करते हैं जब सिनेमा में उस शीर्ष तक नहीं पहुंच पाते. अभिनय हम सीरियल में भी करते हैं. इससे अभिनय भी हो जाता है और एक तयशुदा रक़म भी मिल जाती है और सबसे बड़ी बात कि हम ख़ुद को बेकार महसूस न करें, विशेष तौर से सामाजिक रूप से. हां, सीरियलों के माध्यम से करोड़ों लोगों तक पहुंचते हैं. मैं मानता हूं कि मुझे सीरियलों में अच्छे रोल मिले हैं, सिनेमा में नहीं. एक बात यह भी है कि सिनेमा व सीरियलों में वहां की कंडीशन, कंपल्शन्स में काम करना होता है. जबकि थियेटर में हमें स्वयं को मांजने का, रियाज़ करने का मौक़ा मिलता है. अपने काम के नये रूप ढूंढ़ने का, आत्म-संतुष्टि का, चुनौतियों का सामना करने का मौक़ा नाटक में मिलता है. हम तीस से साठ दिन लगातार अपने को-स्टार्स के साथ काम करते हैं, उस चरित्र को जीने की अभिव्यक्ति में उतारने का अंदाज़ थियेटर देता है. हम नाटक को मिल-जुलकर करते हैं और कार्य को जीवन में उतारने के लिए मेहनत करते हैं. सतत प्यास के तौर पर फ़िल्म करते हैं. मेरा मुंबई आने का अभिप्राय फ़िल्में भी था. नाटक तो दिल्ली में भी कर रहे थे. एक अच्छे नाटक की संतुष्टि आंतरिक है जो सिनेमा, सीरियल में कभी ही मिलती है. इच्छा है उन क्षणों को जीने की जो मुझे, आपको और लोगों को मज़ा दें.

❋ फ़िल्मों में भाषा की गिरावट के विषय में आप क्या कहना चाहेंगे?

ऐसा कुछ भी नहीं है. फ़िल्मों में वह भाषा है जो लेखक, डाइरेक्टर ने दी है. एक्टर उनकी संतुष्टि के लिए कार्य करता है और उसे करना पड़ेगा. चाहे वह ग़लत ही क्यों न हो. आपके और मेरे लिए जो कुभाषा है, वही उनके लिए भाषा है. आप ही बताइए हमारे पास अपने जो संस्कार हैं, नाटक के जो अनुभव हैं, जो भाषा है ये सब कहां जायेंगे? उसे हम कैसे भुला पायेंगे? ऐसा तो मुझे कभी कोई कारण नहीं मिला कि इस भाषा को छोड़कर उस भाषा को पकड़ूं.

❋ कुछ वर्षों से आपके आंगन में 'चौपाल' का आयोजन हो रहा है, तो चौपाल का ख़्याल आपके मन में कैसे आया?

कहीं न कहीं अवचेतन मन में मिल-बैठकर बतियाने की तमन्ना थी. हम जिस तरह की ज़िंदगी जीते हैं उसमें थियेटर में भी उतने मौक़े नहीं मिल पाते. नाटक का सूत्रधार, निर्देशक, लेखक एक ही व्यक्ति होता है. वह आल–इन-वन काम करता है. वह अकेला पूरी संस्था चलाता है. हिंदी नाटक के कुल जमा चार-पांच ही ग्रुप हैं. हमेशा यह ज़रूरी नहीं होता कि हम उसी ग्रुप के साथ काम करें. मेरे पास संस्था चलाने की क़ूवत नहीं है. प्रमुख रूप से मेरे अंदर एक्टर है. 'चौपाल' शुरू होने से पहले की बात है, हम लोग इकट्ठे बैठकर कभी-कभी नाटक पढ़ते थे. ख़ुद से जुड़े रहने के लिए, अपनी आत्मा की ख़ुराक के लिए यह ज़रूरी लगा. 'चौपाल' शुरू करने का

श्रेय शेखर सेन को जाता है. उन्होंने चौपाल के आयोजन का सपना दिखाया. विचार दिया और उनके इस विचार और सपने को १९९८ में चौपाल को शुरू करके कार्यरूप दे दिया गया और इस प्रकार चौपाल का जन्म हो गया.

मुझे याद आता है कि २७ जून १९९८ को कालिदास जयंती थी. उस दिन 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक और 'मेघदूत' आदि पढ़े गये. हमने ही अपने-अपने पांच-पांच लोगों को आमंत्रित कर लिया और आगे चलकर इसे अच्छा सहयोग और ज़बर्दस्त समर्थन मिला. फिर धीरे-धीरे काम बांटते चले गये और अब महीने में एक बार 'चौपाल' जमती है. मेरा इसमें सहयोग कम है. इसकी ज़िम्मेदारी संभालनेवाली त्रिमूर्ति है — शेखरसेन, अतुल तिवारी और अशोक बिंदल. ये लोग आउट ऑफ़ वे जाकर काम करते हैं. ये लोग 'चौपाल' के प्रति पूरी तरह समर्पित हैं और उन्होंने इसे महत्वपूर्ण माना है. जो इस 'चौपाल' में आते हैं, उनका जिस तरह से साथ मिलता है, वह अभूतपूर्व है. हम एक-दूसरे को चौपाली कहते हैं. 'चौपाल' को शुरू हुए चौदह वर्ष हो गये.

❋ आप अभी हाल में एक ग्रुप के साथ फ़ैज़ पर आयोजित कार्यक्रम हेतु पाकिस्तान गये थे, वहां का अनुभव कैसा रहा?

यह अनुभव अपने आप में अद्भुत था. हम लोग वहां पांच दिन थे. बहुत ही मज़ा आया. हमारे दिलों में सामाजिक, राजनैतिक ख़बरों की वजह से जो टोटल पर्सेप्शन बस गया है, जिसमें दुश्मनी दिखती है, उससे एकदम सौ प्रतिशत उलट अनुभव मिलते हैं, वहां जाकर व्यक्तिगत तौर पर. मेरे जैसा व्यक्ति सोचता है कि दोनों देशों के द्वारा फैलाया गया यह षड़यंत्र का जाल है ताकि उनकी गद्दियां बची रहें. उन्होंने हमें जो सम्मान दिया, उससे भ्रांतियां टूटती हैं. उनकी भी हमारी जैसी संस्कृति, सरोकार और भावुकता है. हमारे यहां किसी कवि को लेकर ऐसा कुछ भी नहीं होता जबकि हमारे यहां उनके बनिस्बत ज़्यादा खुलापन है. वहां फ़ैज का म्यूज़ियम है, लायब्रेरी है जो जनता के लिए खुली है. अपने यहां ऐसे बहुत से घराने, परिवार हैं जो बहुत कुछ कर सकते हैं, पर किसी ने हमारे लेखकों के लिए कभी ऐसा कुछ नहीं किया है. हमें साहित्य के ज़रिए उन लोगों में घुसपैठ करनी चाहिए और अपने यहां भी ऐसे काम होने चाहिए. हम बारह लोग वहां गये तो यदि हम उनकी सदव्यवहार बारह सौ लोगों तक भी पहुंचा सकें तो हमारे बीच के पूर्वाग्रह कम हो सकेंगे और एक दूसरे को स्वीकार करने की क्षमता विकसित कर सकेंगे. यदि हम यह आना-जाना शुरू कर दें तो इसके दूरगामी परिणाम बहुत अच्छे हो सकते हैं, लेकिन.....

❋ थियेटर ने आपको नाम, ख्याति, स्थायित्व और पहचान दी है. सुना है, आपको जीवनसाथी भी थियेटर ने दिया है?

जी, नाटक की दुनिया ने पत्नी दी है, नाटक ने नहीं. मैं नाटक-यात्रा के दौरान उज्जैन में 'अंधा युग' नाटक कर रहा था, जिसमें वीना के रिश्तेदार काम कर रहे थे. उनके ज़रिए वीना से मुलाकात हुई, वह नाटक की देन हैं.

❋ आपकी पत्नी आपकी सहयोगी ही बनीं या कभी रुकावट भी बनीं?

वीना ने हमेशा मेरा साथ दिया है. उन्होंने दिल से, पूरी तरह से साथ दिया है. सचमुच 'बिग सपोर्ट'. उन्होंने बख़ूबी घर की ज़िम्मेदारी, बच्चों की ज़िम्मेदारी संभाली. मुझे लगता है कि यह प्लस पांइट हो जाता है आपके काम में. हम तो एक दूसरी दुनिया से आये लोग हैं जिन्हें 'परिवार' पता नहीं होता. धीरे-धीरे स्वीकारोक्ति होती है और इसमें वीना काफ़ी पाज़िटिव रही.

❋ संबंध को बनाने, सहेजने में आप ख़ुद को कितना सहज महसूस करते हैं?

मैं बहुत सहज और असहज दोनों हूं. मुझसे संबंधों में पहल नहीं हो पाती है. सहज संबंध अपने आप बन जायें तो बन जाते हैं और फिर बहुत लंबे तक चलते हैं. मेरे सोशल संबंध नहीं होते. मुझसे परिचय बढ़ाने वाले संबंध नहीं बन पाते. आप ग़ौर करती होंगी कि मैं 'चौपाल' में भी ज़्यादा गुफ़्तगू नहीं कर पाता. जब तक परिचय औपचारिक रहता है, निजी नहीं होता तो बहुत समय लगता है सहज संबंध बनाने में. गोष्ठियों, पार्टियों में मिले परिचय संबंध का रूप ले रही वहीं पाते. मेरे लिए पर्सनल बात बहुत ज़रूरी है याने वन-टू-वन बातचीत. मेरा मेमोरी सिस्टम बहुत ख़राब है जिसके कारण मुझे जल्दी कुछ याद नहीं आता. दूसरे, हर आदमी की सोच अलग होती है. यदि इसे

(शेष पृष्ठ - ५५ पर देखें)

बाइस्कोप

धनी राम चौधरी : उर्फ़, चाचा चौधरी

✍ सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर जानी मानी फ़िल्म, टी.वी., मंच कलाकारा व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं. अगले अंकों में पढ़िए अभिलाष, कमलेश पांडे, जलीस शरवानी आदि के बारे में.)

आषाढ़ की पहली बदली आसमान पर घिरी थी. थोड़ी-थोड़ी बूंदा-बांदी भी हो रही थी. कई चेहरे मेरी नज़रों के सामने आये और धुंधले पड़ गये. लेकिन एक मंझली क़द की दुबली पतली, सीना तना हुआ, सर पर सफ़ेद घने बालों वाले इंसान पर से मेरी नज़रें हटती ही न थीं. कुर्ता-पाजामा और जैकेट पहने वह आदमी हवाई चप्पलों से पानी की लहरें उछालता, बेफ़िक्र, अंधेरी की एक नंगी सड़क पर अपनी ही धुन में चला जा रहा था और मैं वहीं एक बस स्टॉप पर खड़ी बस का इंतज़ार कर रही थी. बाप रे! ढलती उम्र में भी बेधड़क समय को रौंधता चला जा रहा है. ज़रूर कोई कड़का, सूडो बुद्धिजीवी होगा. बेचारा! मैं सोचे जा रही थी उस बुज़ुर्ग के बारे में, शायद कहीं देखा है!

जीवन की खिड़की के पट खोलना और बंद करना मनुष्य के वश में नहीं होता. घटनाएं घटती रहीं और पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द घूमती रही और मेरी उत्सुकता उस काया पर बराबर बनी रही जो बारिश में भीग रहा था. लेकिन एक दिन आनंद की मीठी लहर ने जब वास्तविकता से परिचय कराया तो मैं झूम उठी. वही शख़्स एक ठसाठस भरी सभा में अपनी कविता का पाठ कर रहा था. दर्शक आनंद विभोर होकर वंस मोर, वंस मोर चिल्ला रहे थे. वह मशहूर हस्ती धनी राम चौधरी थे जो बरसों से माया नगरी में चाचा चौधरी के नाम से मशहूर हैं.

परिचय हुआ, मिलने की इच्छा ज़ाहिर की तो बोले — कहां मिलेंगे?

मैं बोली — "आपके घर!",

"नहीं मेरा कोई अपना घर नहीं, अकेला हूं, दूसरों के यहां रहता हूं. आप चाहें तो कल गुप्ता रेस्टोरेंट जो भवन्स कॉलेज की बग़ल में है, वहां मिलते हैं."

"जी ठीक है."

मैं रात भर सोचती रही कि क्या अकेले आदमी का कोई घर नहीं होता. बात में दम है. ऐसे घर का क्या फ़ायदा जिसमें कोई अपना साथ में रहने वाला न हो. नाम, शोहरत, पैसा, अवार्ड सब बेमानी लगता है. मेरी भी तो यही कहानी है. सोच गहरा रही थी.

दूसरे दिन करार के मुताबिक हम दोनों गुप्ता रेस्टोरेंट में एक दूसरे के सामने बैठे थे.

आप तो बहुत गुणी हैं, कला के हर क्षेत्र से वास्ता है आपका. नाम, धन सब कमाया. बरसों से

८ मार्च, १९२७; भरतपुर (राजस्थान)

शिक्षा : *बी.ए., हिंदी साहित्य-संगीत-नृत्य-अभिनय-प्रशिक्षण प्राप्त,*

लेखन : *कथा-नाटक-पटकथा-संवादगीत-कविता इत्यादि, बहुत से कवि सम्मेलनों में भाग लिया, १९४० से १९४७ तक सेवादल के स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया, ५० साल तक निरंतर नाटकों में भाग लिया.*

राजस्थान सरकार के प्रचार नाटक मंच में अभिनय, नृत्य, संगीत, लेखन आदि का कार्य किये. १९५९ से १९८१ तक.

✉ ११४, एकता सोसायटी-२, गिलबर्ट हिल रोड, अंधेरी (प.), मुंबई-४०००५८. मो.:९९६७४९१६९२.

माया नगरी में बने हुए हैं. क्या सब कुछ झोली में परोसा गया था, या स्ट्रगल भी करनी पड़ी सब कुछ पाने के लिए?

मेरे जैसे सरल, सीधे सादे इंसान को मुंबई में कुछ ज़्यादा ही स्ट्रगल करनी पड़ी. बचपन से ही कला के क्षेत्र से जुड़ गया था. कॉलेज पास करने के बाद, नृत्य और संगीत की शिक्षा ले इसी क्षेत्र में आ गया. पत्नी के गुज़र जाने के बाद मन में भटकन थी, कहीं दिल नहीं लगता था. लिहाज़ा, अपना मकान और सब कुछ अपनी इकलौती बेटी के हवाले कर मुंबई चला आया था १९८१ में, और अपनी ज़िंदगी का फैसला माया नगरी की माया के हवाले कर दिया. नाटक लिखे, फ़िल्म पटकथा और गाने लिखे, भजन लिखे, कविताएं लिखीं. संगीत और नृत्य की ट्यूशन भी कीं. कवि सम्मेलनों की रौनक बना. स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया. बंबई में आकर मुझे बहुत पापड़ बेलने पड़े. मसलन कई बार जेब कटी, सामान चोरी हुआ, स्टेशनों पर रातें गुज़ारनी पड़ीं, लेकिन मैं अपने ग़म भूल गया. जीना आसान हो गया.

भाई साहिब क्षमताओं का इंद्रधनुष तो स्वर्ग को भी छू सकता है लेकिन जीवन की ख़िड़की के पट खोलना और बंद करना मनुष्य के वश में तो है नहीं. वैसे भी भूल जाने के बड़े लाभ हैं. आत्मा कोसना बंद कर देती है.

चाचा चौधरी बच्चों समान हंस दिये.

अच्छा, चाचा चौधरी का ख़िताब कैसे मिला?

मैंने १९५८ में इसी नाम से एक पुस्तक लिखी थी जो रिकॉर्ड तोड़ साबित हुई. बाद में डायमंड वालों ने इसके अधिकार ख़रीद लिये और मैं इसी नाम से मशहूर हो गया. बहुत कमाया और बहुत गंवाया. मतलब के दोस्त यार बने और धीरे-धीरे सब खिसक गये. कई हिट गाने चोरी हो गये जो ख़ूब बजते हैं तो दिल को कुछ होता है. मुझे मेरे सीधेपन, सरल स्वभाव की ख़ूब क़ीमत चुकानी पड़ी, यहां माया नगरी में. क़रीब ८५ का हो चुका हूं. पीछे मुड़कर देखता हूं तो कल की बात लगती है. लेकिन मैंने इस उम्र में भी हार नहीं मानी. किसी के आगे हाथ नहीं फैलाये.

आपने फ़िल्में लिखीं, सीरियल लिखे, कभी अभिनय करने का जी नहीं चाहा?

मैने बहुत सारी फ़िल्मों में अभिनय किया. 'नीली घाटी', 'जोरु का गुलाम', 'आशिक़', 'देहाती बाबू' वग़ैरह.

सुना है आपने स्वतंत्रता आंदोलन में भी भाग लिया था और कांग्रेस सेवा दल से जुड़े रहे. श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ चार साल तक लेखन का काम किया. २६ साल सरकारी नौकरी की, राजस्थान के भरतपुर में.

जी यह सब तो है.

चलिए, गुज़रा हुआ ज़माना तो बीत गया, आता नहीं दोबारा. आजकल भी कुछ कर रहे हैं या रिटायर्ड हो गये?

नहीं, आजकल म्यूज़िकल रामायण लिख रहा हूं. दूरदर्शन के लिए जिसमें अनुराधा पौड़वाल, सुरेश वाडेकर, अनूप जलोटा वग़ैरह मेरे भजन गा रहे हैं. पेंशन भी मिलती है राजस्थान सरकार से. गानों की रायल्टी आती है. बहुत है, अकेले के लिए.

मैं ख़ूब हंस दी. आप बार-बार कहते हैं अकेला हूं. इंसान अकेला कहां है. ईश्वर जैसा सच्चा मित्र तो हमेशा हमारी परछाई बनके साथ रहता है. अकेलापन हमारे भीतर होता है. पहचानिए तो. वैसे मैं भी आपकी तरह अकेली हूं. जीवन लोगों का भला करते-करते बीत गया, जब आंखें खुलीं साठ पार कर चुकी थी. देने को कुछ बचा न था, तो दोस्त यार भाग गये. जब म्हाडा का घर निकला तो फिर मधुमक्खी की तरह चिपक गये. कोई कहता — आपको इस उम्र में घर का क्या करना, हमारे नाम कर दो. आप मुझे बेटा मानती हैं. घर मुझे दे दो. लेकिन मैं इस उम्र में असली और नक़ली का भेद समझ गयी हूं. सोचती मेरे जीते जी यह हाल है तो मरने के बाद क्या होगा. लिहाज़ा म्हाडा का घर नहीं ख़रीदा और बची खुची ज़िंदगी किराये के घर में काट रही हूं भाईसाहब.

चाचा चौधरी मेरी बातें सुन उदास हो गये. आंख भर आयी थी उनकी बोले — बहना, मैं आपके सर पर हाथ रखकर कहता हूं आज से आप मेरी बहन हुईं.

नहीं, मैं किसी को भाई नहीं बनाती क्योंकि मेरे अपने भाइयों ने भाई धर्म नहीं निभाया.

नहीं, सविता जी, मैं तो आपको बहन ही मानूंगा और भाई का धर्म भी निभाऊंगा. एक शेर है —

हम पर इतना भी करम कर दो,
इंसान बनाया है, इंसानियत भर दो ।

पो. बॉक्स-१९७४३,
जयराज नगर, बोरिवली (प.),
फ़ोन : ९२२३२०६३५६

पुस्तक समीक्षा

अनुभवों के धरातल से उपजीं ज़िंदा कहानियां

✍ संतोष श्रीवास्तव

मादा (कहानी संग्रह) : **सुमन सारस्वत**
प्रकाशक : शिल्पायन, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-११००३२. **मू.** २००/- रु.

सुमन सारस्वत के पहले कथा-संग्रह 'मादा' से मेरा परिचय ताशकंद-यात्रा के दौरान हुआ. जहां इसका विमोचन समारोह था. इसी यात्रा के दौरान कथा वाचन सत्र में सुमन जी ने इस संग्रह की कहानी 'तिलचट्टा' पढ़ी जिसने मुझे काफ़ी प्रभावित किया. समीक्षा के लिए यह किताब हाथ में आते ही लेखिका की कथा-चेतना की मैं क़ायल हो गयी. पहले लगा कि ये कहानियां स्त्री-विमर्श के वही बार-बार दोहराये जा रहे पहलुओं पर ही लिखी गयी हैं. लेकिन हर कहानी मेरा यह भ्रम तोड़ती गयी. स्त्री को केंद्र में रखकर की गयी रचना को आलोचक स्त्री-विमर्श की संज्ञा दे डालते हैं पर मुझे इनमें कुछ ख़ास लगा, कुछ परे हटकर लगा.

'मादा' में कुल बारह कहानियां हैं जिनका पुस्तक की भूमिका में हवाला कुछ इस तरह — एक औरत जब 'मादा' के खोल से बाहर निकलती है तो कहानी बनती है. जब वह एक इंसान के रूप में ख़ुद को गढ़ती है तो कहानी बनती है और इन बनती हुई बारह कहानियों का समर्पण भी 'मादा' को ही.... सृष्टि की हर प्रजाति की मादा के लिए.

बहरहाल! पहली कहानी 'सौभाग्यवती' बड़ी कड़वी हक़ीक़त से रूबरू कराती एक ज़िंदा कहानी है. ज़िंदा इसलिए कि दुनिया बदली है पर समाज ज्यों का त्यों है. पुरुष नज़रिया ज्यों का त्यों है. सामाजिक कुरीति की शिकार औरत यानी निम्मी की काकी एक प्रश्न छोड़ जाती है कि यह कैसा सात फेरों का सच है जिसमें पत्नी की मृत्यु के अगले ही पल पति दूसरे विवाह का सोचने लगता है? और इस रिवाज को नकारती निम्मी के लिए अपनी मम्मी का यह वाक्य चिन्गारी-सा उसकी सोच को भड़काता है, 'मैं भी नहीं मानती इस रिवाज को... कि एक औरत को अपनी सदगति के लिए किसी पुरुष या समाज के रिवाज पर निर्भर रहना पड़े.' सचमुच गहरी चोट की है लेखिका ने दोनों कथनों के द्वारा.

'मैं आऊंगी ज़रूर' में लिव-इन रिलेशनशिप के मौजूदा रिवाज को सितारों के प्रतीक के साथ जोड़कर लेखिका ने उदारीकरण के पल-छिन बदलते यथार्थ और बिन ब्याहे संबंधों को असुरक्षा के साथ-साथ उनके संत्रास को व्यक्त किया है. लिव-इन रिलेशनशिप आज एक ऐसा शग़ल बन गया है जिसे अपनाते हुए कोई भी उम्र सीमा मिट जाती है. सवाल यह भी है कि इसका भविष्य क्या होगा? कहीं आकाश से टूटे युगल तारों की तरह तो नहीं, जो टूटकर या तो ब्लैक होल में समा जाते हैं या आकाशगंगा से छिटक जाते हैं?

'तिलचट्टा' देह व्यापार के लिए मजबूर की गयी औरत की मर्मस्पर्शी कहानी है जिसके शौहर ने ही उसकी सेज किसी और के लिए सजायी. वह औरत जिसके पहले शौहर ने उसे पैसे के लिए छोड़ा दूसरे शौहर ने पैसे के लिए उसे कहीं का नहीं छोड़ा और तब उसके दिमाग़ में आता है कि ख़ुदा को औरत को ग़ैरत देना ही नहीं चाहिए था.... अंतिम वाक्य जब हवलदार के साथ न जाने की अपनी लाचारी बताते हुए कहती है, 'तुमने कभी मरद ट्राई किया?' और उसकी उंगली शौहर की तरफ़ उठ जाती है जो पूरी कहानी में दर्शायी औरत की विवशता को एक विद्रोहात्मक मोड़ दे देती है. मुंबईया भाषा में रची गयी कहानी कुछ ऐसे तेवरों को प्रगट करती है जैसे अंधेरे कोने से उठायी गयी चीख़.

'रेतघड़ी' बेटे की मौत को रेतघड़ी का प्रतीकात्मक रूप देती है. ज़िंदगी रेत की तरह फिसलती मौत के ख़ाने में समा जाती है.

संग्रह की सबसे लंबी और बेहद असरदार कहानी है

'मादा'... एक औरत जो बार-बार बेटियां पैदा करने के जुर्म में घरवालों से ही प्रताड़ित होती रही और यह प्रताड़ना आज हर आम और ख़ास वह औरत भुगत रही है जिसकी कोख बेटियां ही पैदा कर रही है. 'मादा' की शुचिता के मन में सुलगता ज्वालामुखी तब फट पड़ता है जब सास के द्वारा लिखे परीक्षण का प्रस्ताव आता है. 'काश! आपकी मां ने आपको जन्म देने से पहले कुछ खा लिया होता... और मेरी मां ने भी पैदा होते ही मेरा गला घोंट दिया होता तो आज यह सब नहीं सहना पड़ता मुझे.... मैं आज ख़त्म कर दूंगी इसे....' और वह सास की तरफ बढ़ती है, 'तुम्हें भी मार डालूंगी.'

शुचिता की कहानी को लेखिका ने गर्भवती कुतिया के साथ कुछ इस तरह जोड़ा है कि मादा चाहे किसी भी योनी की हो दर्द उसके एक से होते हैं. शुचिता का मन तमाम विरोधाभासों के बावजूद कह उठता है.... 'औरत होकर औरत को सज़ा मत दो. औरत होकर औरत को अपनी कोख से जन्म लेने दो... बेटी को पैदा होने दो... पलने दो.... बढ़ने दो.' और वह जो कुतिया के द्वारा नर पिल्ले ब्याये जाने की ख़बर सुन अपने अंदर की नारीवादी औरत को ख़त्म कर ख़ुद भी बेटा चाहने लगी थी अचानक अभी-अभी जन्मी अपनी बेटी को आकुल होकर स्तनपान कराने लगती है. इस कहानी को बेशक स्त्री-विमर्श को एक नया विस्तार देती कहानी कह सकते हैं. एक ऐसा फलक जो बदलते समय के मिज़ाज और लहजे का है.

'डोंट टेल टू आंद्रे' कहानी, शुरुआत में गोवा का यात्रा-संस्मरण लगती है लेकिन तभी बीच में एक कहानी जन्म लेती है जो यह जताती है कि पूरी दुनिया में औरतों की हालत एक जैसी है. अपने मन से ख़रीदी वस्तुओं के लिए डर, पति से छुपाना कि कहीं नाराज़ी न झेलनी पड़े. निर्णय की कोई आज़ादी नहीं चाहे इंडिया हो या रशिया.

मुंबई की लोकल ट्रेन में जन्मी कहानी 'दुनिया की सबसे ख़ूबसूरत औरत' में मातृत्व भाव की सुंदरता का मिस इंडिया कॉन्टेस्ट में आयी सुंदरियों के साथ तुलनात्मक वर्णन है.

'काश! उनकी मां भी मेरी मां जैसी होती' कहानी भी लोकल ट्रेन में सफ़र के दौरान लेखिका के अनुभवों को रेखांकित करती है. लोकल ट्रेन से शुरू हुई निम्न वर्ग की औरतों की आपस की गालियां उच्च वर्ग तक सुनी जा सकती हैं.... सब जगह एक जैसी ही स्थिति है.

'हां मैं जीना चाहती हूं.' कहानी है तो बलात्कार की त्रासदी लेकिन इस बार मंगेतर युवक-युवती दोनों बलात्कार का शिकार होते हैं. युवती ओमा बलात्कार की आग में झुलस रही है... वह तीव्र मानसिक वेदना से गुज़रते हुए आत्महत्या तक का विचार मन में ले आती है जबकि युवक रोहित उस हादसे को भूलकर जीना चाहता है. कई तर्कों के बाद ओमा निश्चय करती है कि जब रोहित पर इस हादसे का कोई असर नहीं तो वह ही क्यों मरे? औरत ख़ुद को क्यों इस आग में झुलसाती है? नहीं, वह भी जियेगी रोहित के समान सब कुछ भूलकर.

'हैंगर पर टंगा एक धोखा' साधारण कहानी है. यह भी लोकल ट्रेन में जन्मी है. मुंबई का हर व्यक्ति भिखारियों के भीख मांगने का धंधा जानता है. भोली भाली नायिका शायद नहीं और इसीलिए वह इस छल और धोखे को हैंगर पर टंगे धोखे के बहाने हमेशा याद रखती है.

'आवारा कुत्ते' गली के आवारा कुत्तों के संग पुरुष की मानसिकता को जोड़कर बेहद मार्मिक कहानी बन पड़ी है जहां एक पागल युवती के साथ कुछ पुरुष बलात्कार करते हैं और वह गर्भवती हो जाती है. उसकी नग्नावस्था और पुरुष अत्याचार का चरम शिक्षिका रेवती को बेचैन कर देता है और वह उसे एक एनजीओ के द्वारा प्रोटेक्शन दिलवाती है. रेवती का चरित्र लेखिका ने बहुत ऊंचा सिद्ध किया है. जहां वह 'आवारा कुत्तों' से निपटने की एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है.

अंतिम कहानी 'मुआवज़ा' पैसों के लालच की कहानी है. हरिद्वार में जानबूझकर बुलायी गयी दुर्घटना में मरे बेटे के लिए विलाप के संग माता-पिता द्वारा बहू को कोसना लेकिन मुआवज़े की रक़म सुन लालच का दावानल उनकी आत्मा को मार डालता है. दलाल भी तन कर आत्मा को मारने का मुआवज़ा ज़्यादा मांगता है. हैवानियत, विकृति और कुटिलता की ज़िंदा कहानी है 'मुआवज़ा.'

सुमन जी ने इन कहानियों के ज़रिए एक ऐसा कोलाज रचा है जिसमें समय के साथ-साथ समाज की भी ऐसी तहरीर है जिनके जरिए हम वर्तमान के अनेक मंजर देख-परख सकते हैं. भाषा मानो एक जज़्बे की तरह है जो कहानी के पात्रों के अनुरूप अपने को ढाल लेती है. कहीं मुंबइया, कहीं मराठी और कहीं गुजराती भाषा में लिखे

संवाद असरदार हैं. लेखिका के अपने अनुभव इन कहानियों में छनकर आये हैं इसलिए ये गढ़ी हुई नहीं लगतीं. सहज अनुभूति कराती चलती हैं.

२०४/केदारनाथ को.हॉ.सोसायटी,
सेक्टर-७, निकट चारकोप बस डेपो,
कांदिवली (पं.), मुंबई-४०००६७
मो.:९९६७६५११०७.

हरियाणा की आंचलिक अभिव्यक्ति

अशोक वशिष्ठ

विश्वास और अन्य कहानियां (क.स.) **: सुरेश घनगस**
प्रकाशक : सुकीर्ति प्रकाशन, करनाल रोड,
कैथल-१३६०२७ **मू.** १५०/- रु.

आंचलिक पृष्ठभूमि को लेकर लिखी गयी कहानियां किसी प्रदेश या किसी अंचल की परिस्थितियों को प्रदर्शित करती हैं, उनमें उस अंचल के परिवेश, वहां घटित होनेवाली घटनाओं और वहां के पात्रों को लेकर लेखक अपनी बात कहता है. सुरेश घनगस ने वही किया है.

सुरेश घनगस ने अपने इर्द-गिर्द के परिवेश से कहानियां उठायी हैं. पेशे से अध्यापक सुरेश घनगस ने बड़े सरल शब्दों में स्वाभाविक शैली के साथ कहानियों को ढाला है. लेखक ने जो देखा है, जो महसूस किया है उसे जस का तस कहानियों का रूप दिया है. लेकिन घटनाओं को जस का तस कहानियों में ढाल देना ही क्या कहानी लेखन है? यदि इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जाये तो लगता है कि कहानी किसी समाज, किसी अंचल की तस्वीर तो हो सकती है किंतु लेखक का उत्तरदायित्व उस तस्वीर को उकेरने के आगे भी है.

पहली कहानी 'ख़बर' हरियाणा में चल रहे 'ऑनर किलिंग' को लेकर लिखी गयी है. कभी बचपन में हर्षिता के साथ खेल चुका नायक गांव जाते समय अख़बार में एक छोटी सी ख़बर पढ़कर विचलित हो जाता है. हर्षिता परिस्थितियों वश गोत्र प्रथा के अनुसार अपने ही रिश्ते के विवाहित पुरुष के साथ रहने लगती है. हर्षिता के पिता और भाई क्रोधवश उस 'पुरुष' की हत्या कर देते हैं. लेखक का यह प्रश्न, 'दूसरे का जीवन लेने का उन्हें क्या अधिकार है? वे अनपढ़ नहीं हैं, वे गांव में नहीं रहते, फिर भी उन्होंने ऐसा क़दम उठाया. उधर चल रहे 'ऑनर किलिंग' पर प्रश्न उठाता है!'

कहानी 'उसकी आंखें' गृह क्लेश से तंग आकर आत्महत्या कर लेने वाली एक सुंदर आंखों वाली गृहणी की कहानी है. उसका पति मज़दूर हैं. 'जाट-ज़मींदारों की तरह बाप-दादा से मिली न हमारे पास ज़मीन है और न ही मैं इतना पढ़ा-लिखा, तो फिर मज़दूरी ही तो करनी थी.' यह संवाद मज़दूर की व्यथा दर्शाता है. हालातों से तंग आकर सुंदर आंखों वाली वह गृहणी आग लगा लेती है और अस्पताल में अंतिम सांस लेने से पहले वह अपनी सुंदर आंखों को दान कर देती है संभवतया इस उम्मीद से कि उसकी आंखें तो कम से कम सुख के दिन देख सकें.

कहानी 'क़ीमत' का नायक प्रदीप एक ऐसी जमात का है जो टीवी, मोबाइल, सिनेमा तथा शराब के नशे में डूब चुकी है. प्रदीप चलती औरतों को बड़ी बदतमीज़ी के साथ छेड़ता है. दूसरे की बीबी को अपनी हवस का निशाना बनाना अपनी मर्दानगी समझता है. लेखक ने इस कहानी की पहली ही पंक्ति में अभिव्यक्ति स्वतंत्रता की सीमाएं लांघ दी हैं. प्रश्न वही कि क्या जस का तस अभिव्यक्त करना ही कहानी लेखन है?

'पश्चाताप' कहानी में ईंट के भट्टे पर काम करनेवाले एक मज़दूर की पत्नी अपने देवर से देहसंबंध बना लेती है. 'विश्वास' में समाज में छोटी-छोटी बातों को लेकर एक दूसरे की जान ले लेने की वैमनस्यता दर्शायी गयी है. छोटी-छोटी बातों पर लड़ बैठनेवाला चाचा और उसका पूरा परिवार कहानी के नायक और उसके पिता पर जानलेवा हमला कर बैठता है. नायक का दाहिना हाथ इस घटना में कट जाता है. नायक गांवों के बिगड़े हालातों को लेकर चिंतित है, 'गांवों में भी परिवार अब छोटी-छोटी इकाइयों में बंट गये हैं. भाई-चारे की जगह द्वेष ने ले ली है. ज़मीन कम हो गयी है. आदमी ज़्यादा, छोटे से ज़मीन के टुकड़े के लिए लोग अपनों का कत्ल कर देते हैं.'

'शेर' फिर वही आजकल के बिगड़ैल युवाओं की कहानी है जो शराब के नशे में अपनी अकड़ क़ायम रखकर ख़ुद को 'शेर' समझते हैं.

'बदलाव' कहानी में एक रसिक मिज़ाज अधेड़ उम्र

के बस यात्री की ग़लती की वजह से एक युवती ग़लत-फ़हमी का शिकार होकर एक सीधे-साधे युवक को तमाचा जड़ देती है. 'शॉर्टकट' में फिर वही दर्शाया गया है कि किस तरह मां-बाप की आंखों में धूल झोंक कर युवा पढ़ाई के नाम पर हॉस्टल में रहकर आवारागर्दी करते हैं. ऐश करने के लिए वे लूट पाट करने से भी नहीं चूकते.

'संडे वाले पापा' कहानी ऐसे मज़दूर की आपबीती है जो तड़के ही शहर में अपनी ड्यूटी के लिए गांव से निकलता है और देर गये घर वापस पहुंचता है जब कि उसके बच्चे सोये होते हैं. उसके साथी मज़दूर उसे सुझाव देते हैं कि वह घड़ी या मोबाइल क्यों नहीं ख़रीद लेता. इसके जवाब में वह कहता है — 'हाथ की घड़ी से मुझे हाथ पर बोझ लगता है और मोबाइल मुझे अच्छा नहीं लगता. वजह! मोबाइल लेते ही आदमी झूठा हो जाता है. वह कहीं और होता है. बताता अपने आपको कहीं और है. वह भी सभी के सामने.....' कहानी 'निशान' ध्यान आकर्षित करती है. देश के प्रधानमंत्री की हत्या के बाद एक ख़ास पंथ के लोगों के ख़िलाफ़ लोगों में उन्माद फैल जाता है. एक यात्रा बस में लगे एक ख़ास धर्म के चिन्ह को देखकर दंगाई बस में आग लगाने को तत्पर हो जाते हैं लेकिन चालक बस ड्राइवर उस ख़ास धर्म के प्रतीक को हटा देता है और मामला शांत हो जाता है.

कहानी 'दो शब्द' का नायक अपनी पत्नी के रहते हुए भी घर में आश्रिता के तौर पर रहनेवाली एक दूसरी स्त्री की देह के प्रति आकर्षित है. पत्नी प्रसव के लिए अस्पताल जायेगी और उसे उस स्त्री के साथ निकटता का अवसर मिलेगा. इस बात से वह रोमांचित है लेकिन बच्चे के जन्म के बाद ही नायक अचानक चरित्रवान बन जाता है.

'रानी' हरियाणा की एक ऐसी आंचलिक कहानी है जो वहां की 'पंचायत व्यवस्था' की दबंगई को प्रस्तुत करती है. अत्यंत ग़रीब पिता की पांचवी संतान रानी का विवाह धनाभाव के कारण एक संपन्न परिवार के मानसिक रूप से विकलांग युवक से हो जाता है. क़िस्मत का लेखा मानकर 'रानी' संघर्ष करती है और अपने पति का डॉक्टरी इलाज करवाती है. परिणाम स्वरूप जुड़वां बेटों को जन्म देती है. लेकिन उसका जेठ पंचायत के लोगों को पैसों से ख़रीद लेता है. पंचायत फ़ैसला करती है कि उसकी संतानें नाज़ायज हैं. अपने संघर्ष में हार कर रानी आत्महत्या कर लेती है.

लेखक सुरेश घनगस का प्रयास काफ़ी हद तक सराहनीय है. घटना को जस का तस कहानी में ढालने के स्थान पर यदि लेखक पात्रों की मनोवैज्ञानिक मीमांसा करते हुए कथानक को बढ़ाये तो निश्चित ही आंचलिक कहानियों में वे अपना अच्छा योगदान दे सकेंगे.

सी-६०३, सागर रेसीडेंसी,
सेक्टर-२७, नेरुल, नवी मुंबई-४००७०६
मो. : ९८६९३३७६१८

आम आदमी के दर्द की कविता

रतन वर्मा

पूरब की ओर (काव्य) : **सुबोध सिंह 'शिवगीत'**
प्रकाशक : एजुकेशनल बुक सर्विस,
नयी दिल्ली-११००५९. **मू.** २००/- रु.

कविता उस आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति होती है, जो संवेदना को छटपटाहट की हद तक प्रभावित कर कवि के मर्म से प्रस्फुटित होती है. यह आत्मानुभूति नितांत निजी भी हो सकती है, और कवि के ईर्द-गिर्द की परिस्थितियों के प्रभाव से जनित भी. सुबोध सिंह 'शिवगीत' का काव्य-संग्रह 'पूरब की ओर' की अधिकांश कविताएं देश-समाज की उन असंगत परिस्थितियों के परिणाम हैं, जिन्होंने संपूर्ण मानव-समुदाय को विपरीत ढंग से प्रभावित कर रखा है. जहां इंसान के पास सपने तो अनंत हैं, पर सपनों को जीने के लिए चंद सांसें भी मुहाल. आज देश के अनेक राज्य आतंकवाद से ग्रसित हैं. नक्सलवाद एक भयानक रूप ले चुका है. जिससे निपटना हमारी व्यवस्था के लिए नाकों चने चबाने के समान है. लेकिन इन नक्सलियों का जन्म अकस्मात ही तो नहीं हो गया. संग्रह की 'उसको नक्सली नहीं बनना पड़ता', कविता उस सच्चाई को दर्पण दिखाता है, जिस कोख से नक्सली का जन्म होता है, 'उसको/नक्सली नहीं बनना/पड़ता, यदि गांव के/सभी घर खपड़ा/और मिट्टी/के ही होते/सभी एक ही तरह के/घरों में ज़मीन पर/जागते-रहते-सोते/ईंट और गारों/का घर बनाकर/सिर्फ़ कुछ लोग/धरती की बजाय.

छत के आकाश पर/नहीं झूमते.'

यह काव्यांश गांवों-शहरों में चौड़ी होती जा रही मनुष्य-मनुष्य के बीच की उस खाई की ओर संकेत हैं, जिसके गर्भ से आक्रोश का ऐसा ज्वालामुखी प्रस्फुटित होने लगा है, जिसका परिणाम अमानवीयता की हद को भी पार करता जा रहा है. साथ ही इस बात का भी संकेत है कि अगर इस खाई को पाटा नहीं गया, तो कहीं ऐसा न हो कि किसी दिन मानवीय अस्तित्व के विरुद्ध यह एक असाध्य चुनौती के रूप में खड़ी हो जाये.

एक तरफ़ तो आतंकवाद ने हमारी जड़ों को खोखला करना शुरू कर दिया है, तो दूसरी तरफ़ सत्ता-लोलुपता ने सांप्रदायिक वैमनस्यता के द्वारा इस हद तक हमारे समाज को बांटना शुरू कर दिया है कि मनुष्य न होकर धर्माधारित खूंखार भेड़िया हो गया है — 'एक ने मुस्लिमों को हिंदू के ख़िलाफ़/दूसरे ने हिंदुओं को मुसलमानों के ख़िलाफ़/अपनी अर्थव्यवस्था सुधारने/के लिए विश्व बाज़ार में ख़ूब भंजाया है.'

यानी सामाजिक-आर्थिक असमानताओं ने जहां आतंकवाद की ज़मीन को उर्वर बनाने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया है, तो दूसरी ओर सत्ता-लोलुप ताक़तों ने सांप्रदायिक उन्माद में अपनी राजनैतिक गोटी सेंकने में कोई कोर-कसर बाक़ी नहीं रखा.

झारखंड का आदिवासी-जंगली क्षेत्र जो देश को ऊर्जा से लेकर तरह-तरह के क़ीमती खनिज से मालामाल करता है, कवि उस इलाक़े के वनवासियों की पीड़ाओं से भी कम आहत नहीं है. पेट की ज्वाला शांत करने के लिए उन्हीं इलाक़ों की बेटियों को ब्याह के नाम पर बिकना पड़ता है और बिचौलियों के द्वारा तथा शहरों की बहुमंज़िली इमारतों में उनके शील का व्यापार होता है. रोज़गार तो है नहीं वहां, जंगल में बकरी तक चराना मुहाल है उन लोगों के लिए. इसलिए कि ख़ौफ़नाक जंगली जानवरों से भी अधिक भय है नक्सली का. वनवासियों के आर्तनाद को कवि ने अत्यंत ही मर्मांतक शब्द दिये हैं — 'रेडियो टी. वी./या अख़बार से/समाचार मिलता है/दो दर्जन आदिवासी/बालाएं मुक्त करवायी गयीं/बिचौलियों और बहुमंज़िली/इमारतों से/फलां महानगर से/पर अब तक/घर नहीं पहुंचीं/हमारी ब्याही बेटियां/बाबूजी....'

झारखंड के आदिवासियों का दूसरा दर्द है अपनी ज़मीन से उजड़कर विस्थापन की सज़ा को झेलते-झेलते प्राण त्याग देना. विस्थापन के इस दर्द को भी बड़ी शिद्दत के साथ महसूस किया गया है इस संग्रह की कविता 'विस्थापन' में. विकास के नाम पर औने-पौने में सरकारी क़ीमतों पर आदिवासियों की ज़मीन का अधिग्रहण कर उन्हें विस्थापित कर दिया जाना और सारी उम्र के लिए यहां से वहां भटकने के लिए छोड़ दिया जाना — आदिवासियों की इस नियति की पीड़ा इन पंक्तियों में स्पष्ट महसूस की जा सकती है — 'हम झारखंडियों को/विस्थापित होना है/बार-बार सौ बार-हज़ार बार/कट्ठा और डिसमिल/का सरकारी रेट लगाकर/सरकार/लग जाती है/राष्ट्र की समृद्धि में/और बाक़ी के तंत्र/अपनी-अपनी समृद्धि में/..../सिर्फ़ गांधी छाप चंद नोट.

हमारे देश के सिस्टम का एक महत्वपूर्ण अंग है पुलिस महकमा. इस महकमे को संचालित करने में 'दारोग़ा' का अहम स्थान होता है. बावजूद इसके दारोग़ा सिस्टम की एक कठपुतली मात्र होता है. इसे भी कवि ने गहराई से समझा है - अपनी कविता 'दारोगा' में - 'दारोग़ा बदनाम है/नाजायज़ कमाने में/पर लिफ़ाफ़ा भरकर/ऊपर से बाहर तक के/साहबों और नेताओं/को घर-घर लेवी पहुंचाने में/सैकड़े नब्बे का ख़र्च है/पर सारी बेईमानी इस बेचारे के नाम दर्ज है.'

अपने संग्रह 'पूरब की ओर' की विभिन्न कविताओं के माध्यम से सुबोध सिंह 'शिवगीत' ने देश-समाज की उस नब्ज़ को पकड़ने का काफ़ी हद तक सफल प्रयास किया है, जो कारक हैं पूरे देश को असंगत, त्रासद, अमानवीय हालात तक पहुंचाने के लिए. चाहे नरेगा का भ्रष्टाचार और उससे प्रभावित होनेवाले ग़रीब-मज़दूर हों, मोटिया मज़दूर की पीड़ा हो, सुखाड़ की मार हो, दहेज-दानव का विकराल जबड़ा हो, गोबर चुनने वाली महिलाओं की दुखद परिस्थितियां हों, बच्चों की समस्या हों, स्त्रियों की निजी सामाजिक समस्याएं हों, राजनीति की सड़ांध, हिंदी पर विदेशी भाषा का आधिपत्य होते जाना हो..... कवि ने उन तमाम समस्याओं को संग्रह की कविताओं के माध्यम से सामने रखने का प्रयास किया है. शायद ही कोई ऐसी समस्या जो हमारे जीवन को प्रभावित करती हो, इस संग्रह से अछूती रह गयी हो.

के-१०,सी.टी.एस. कॉलोनी,
हजारीबाग-८२५३०१ (झारखंड),
मो.:९४३०३४७०५१

(‘सागर-सीपी’ का शेष भाग)

स्वीकार कर लें तो दुनिया आसान हो जायेगी. जैसे चेहरे अलग-अलग हैं, वैसे ही सोच, इच्छाएं, प्रमुखताएं अलग-अलग हैं. मज़े, शौक़, सरोकार सब कुछ अलग हैं. इसलिए जनरल न कुछ कह सकते हैं और न कर सकते हैं. कॉमन फैक्टर्स को निकालकर एक रूप दे दिया जाये, यह जुदा बात है. गणित, फ़िजिक्स के नियम जनरल हैं, ये पढ़ाये जा सकते हैं, लेकिन मानव स्वभाव! ये सबसे परे है.

आस्था प्लॉट नं. ३०, आराम नगर-२, वर्सोवा, अंधेरी (प.), मुंबई-४०००६१.
मो.: ९८२००४६५६३

मधु अरोड़ा,
ए-१/१०१, रिद्दी गार्डन, फ़िल्म सिटी रोड, मालाड (पू.), मुंबई-४०००९७.
मो.: ९८३३९५९२१६

‘कथाबिंब’ का यह अंक आपको कैसा लगा कृपया अपनी प्रतिक्रिया हमें भेजें और साथ ही लेखकों को भी. हमे आपके पत्रों का बेसब्री से इंतज़ार रहता है. - संपादक

पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया ‘कथाबिंब’ की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय, मनी ऑर्डर फॉर्म पर ‘संदेश के स्थान’ पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित साफ़-साफ़ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

- संपादक

eSense Learning (P) Limited
A NAVNEET initiative
(Best Educational Software Developer)
CLASSROOM TEACHING SOFTWARE
For Std. 5th to Std. 10th

Efficient Learning
Effective Understanding
Easy Remembering
through
Excellent Audio-visuals
eSense
digital classroom
Head Office : Navneet Bhavan, Bhavanishankar Road, Dadar (W), Mumbai- 400 028. (Tel.:6662 6401 • Fax: 6662 6402)
Pune Branch : Tel. 2443 1007 | Nagpur Branch : Tel. 242 1522 | Nashik Branch : Tel. 259 6950

卐 संस्कृति संरक्षण संस्था, मुंबई (पंजी.) 卐

भारत की सामासिक संस्कृति, साहित्य, कला, भाषा तथा स्वस्थ परंपराओं को संरक्षित एवं संवर्धित करने के उद्देश्य से ***संस्कृति संरक्षण संस्था*** की स्थापना की गयी है.

संस्था की कुछ नियमित गतिविधियां इस प्रकार हैं :

१. संगीत की कक्षाएं नियमित चलाना व संगीत-नृत्य के कार्यक्रम आयोजित करना.

२. संस्था के भाषा-विभाग द्वारा ***"कथाबिंब"*** त्रैमासिक कहानी पत्रिका का नियमित प्रकाशन. पिछले चार वर्षों से पत्रिका ने, वर्ष २००७ के प्रारंभ में दिवंगत हुए हिंदी साहित्यकार पद्मविभूषण **श्रीयुत कमलेश्वर** की स्मृति में अपने वार्षिक कहानी पुरस्कार का नाम ***"कमलेश्वर-स्मृति कथाबिंब कथा पुरस्कार"*** रखा है. ये पुरस्कार पत्रिका में पूरे वर्ष में प्रकाशित कहानियों पर पाठकों के अभिमतों के आधार पर दिये जाते रहे हैं. ***"कथाबिंब"*** किसी भी भाषा की एक मात्र पत्रिका है जो इस प्रकार का आयोजन करती है.

३. हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार के कार्यक्रमों का आयोजन, जैसे : कवि-सम्मेलन व काव्य-सृजन प्रतियोगिताएं.

४. हिंदी-पुस्तकालय प्रबंधन / संचालन.

५. संस्था की गतिविधियों को और अधिक अच्छे ढंग से चलाने के लिए ज़मीन प्राप्त करने की दिशा में प्रयास जारी हैं.

६. जनसामान्य को सीधे प्रभावित करने वाले विषयों पर समय-समय पर संगोष्ठियों, परिचर्चाओं का आयोजन. संस्था द्वारा किया जाता है.

आपके किसी भी प्रकार के सहयोग का स्वागत है. कृपया *"कथाबिंब"* के पते पर संपर्क करें.

निवेदन

रचनाकारों से

__"कथाबिंब"__ एक कथाप्रधान पत्रिका है, कहानी के अलावा लघुकथाएं, कविता, गीत, ग़ज़लों का भी हम स्वागत करते हैं. कृपया पत्रिका के स्वभाव और स्तर के अनुरूप ही अपनी श्रेष्ठ रचनाएं प्रकाशनार्थ भेजें. साथ में यह भी उल्लेख करें कि __विचारार्थ भेजी गयी रचना निर्णय आने तक किसी अन्य पत्रिका में नहीं भेजी जायेगी.__

१. कृपया केवल अपनी अप्रकाशित और मौलिक रचनाएं ही भेजें. अनूदित रचना के साथ मूल लेखक की अनुमति आवश्यक है.

२. रचनाएं काग़ज़ के एक ओर अच्छी हस्तलिपि में हों या टंकित हों. रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें. वापसी के लिए स्व–पता लिखा, टिकट लगा लिफ़ाफ़ा व एक पोस्ट कार्ड अवश्य साथ रखें, अन्यथा रचना संबंधी किसी भी प्रकार का पत्राचार करना संभव नहीं होगा. रचना के साथ कवरिंग लेटर का होना आवश्यक है. अन्यथा रचना पर विचार करना संभव नहीं होगा.

३. सामान्यत: प्रकाशनार्थ आयी कहानियों पर एक माह के भीतर निर्णय ले लिया जाता है. अन्य रचनाओं की स्वीकृति की अवधि दो से तीन माह हो सकती है. कहानियों के अलावा चयन की सुविधा के लिए एक बार में कृपया एक से अधिक रचनाएं (लघुकथा, कविता, गीत, ग़ज़ल आदि) भेजें.

४. आप ई–मेल से भी रचनाएं भेज सकते हैं. ई–मेल का पता है : kathabimb@yahoo.com. रचना की "डॉक" फ़ाइल के साथ "पीडीएफ" फ़ाइल भी भेजें. साथ में यह घोषणा भी होनी चाहिए कि विचारार्थ भेजी रचना निर्णय की सूचना प्राप्त होने तक किसी किसी अन्य पत्रिका मे नहीं भेजी जायेगी.

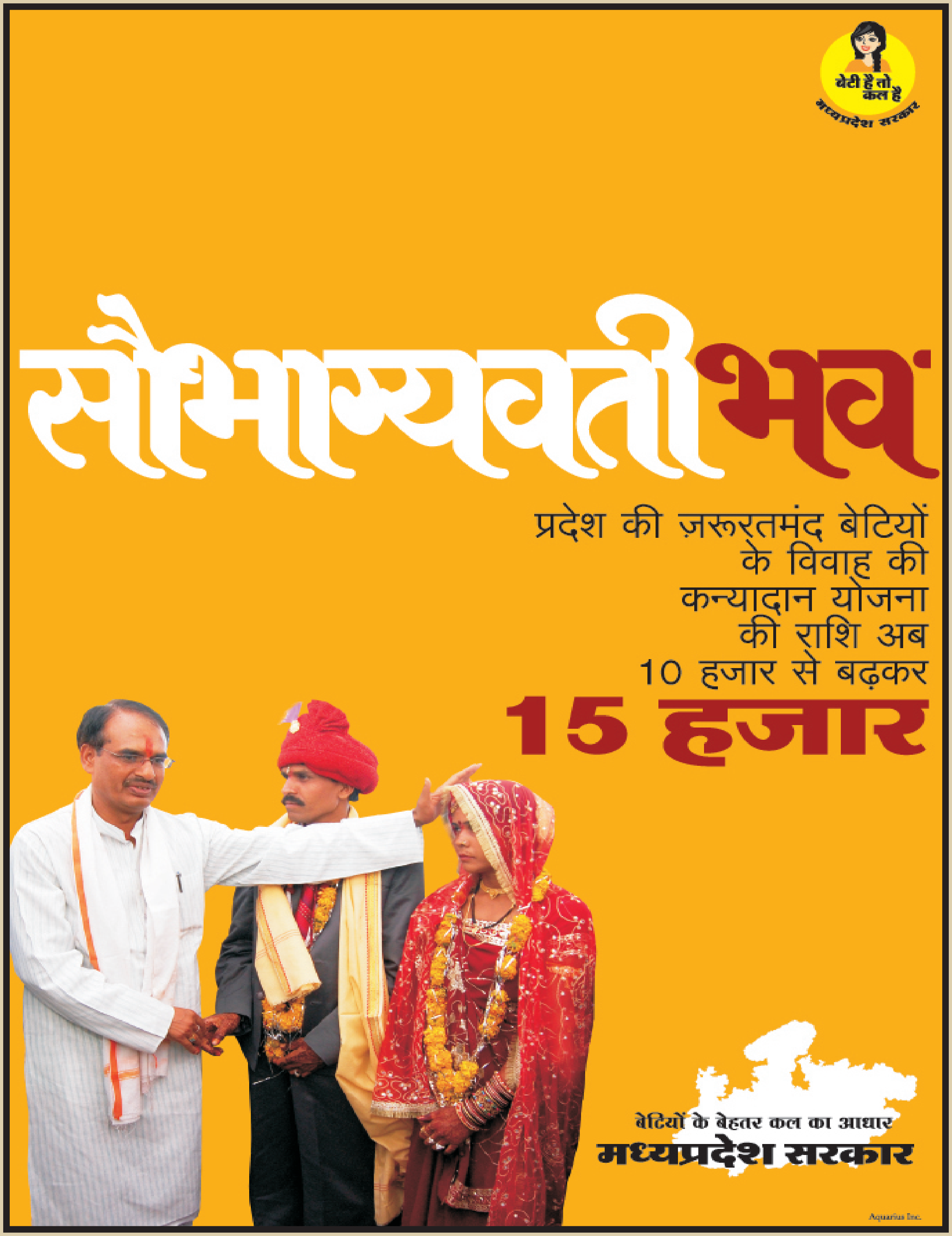

मंजुश्री द्वारा संपादित व ज्ञानेश्वर माउली प्रिंटर्स, रेतीवाला इंडस्ट्रीज के पास, न्यू पत्रा शेड, चुन्नीलाल कंपाउंड, मुंबई -४०० ०३३ में मुद्रित.
टाईप सेटर्स : वन अप प्रिंटर्स, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई -४०० ०७१. फोन -२५५१५५४१

संपादक : डॉ. अरविंद

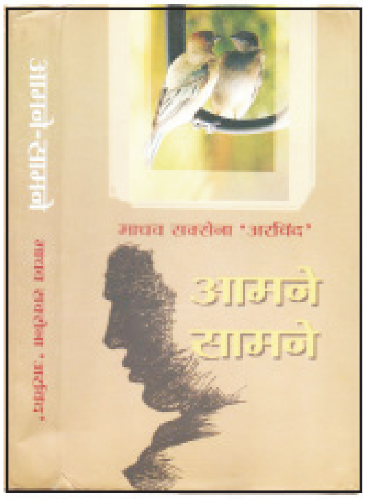

मूल्य : ४०० रु.

आमने-सामने

("कथाबिंब" के "आमने-सामने" स्तंभ में प्रकाशित २२ पुरुष-रचनाकारों के आत्मकथ्यों का संकलन.)

: प्रकाशक :

भावना प्रकाशन

१०९ ए, पटपटगंज, दिल्ली-११००९१.

फोन : २२७५६७३४,

मो ०९३१२८६९९४७

"कथाबिंब" के लेखकों और पाठकों के लिए २० % छूट. सीधे प्रकाशक से संपर्क करें.

महिला-रचनाकार : अपने आइने में

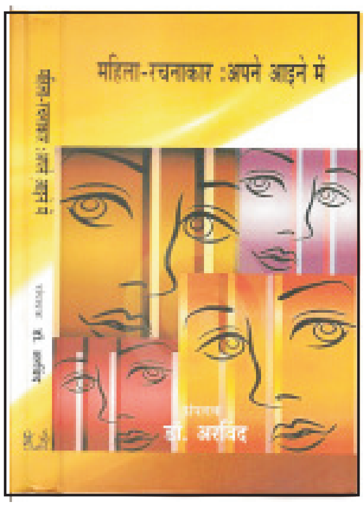

मूल्य : २५० रु.

("कथाबिंब" के "आमने-सामने" स्तंभ में प्रकाशित १२ महिला-रचनाकारों के आत्मकथ्यों का संकलन.)

: प्रकाशक :

भारत विद्या निकेतन

१३१, चित्तरंजन एवेन्यू,

प्रथम तल, कोलकाता-७०० ०७३

: एक मात्र वितरक :

मानव प्रकाशन

१३१, चित्तरंजन एवेन्यू,

प्रथम तल, कोलकाता-७०० ०७३

"कथाबिंब" के लेखकों और पाठकों के लिए २० % छूट. सीधे वितरक से संपर्क करें.

फ़ोन : ०३३-२२६८ ४८२२ व ०९८३१५ ८१४७९.

RESIKON®

CONSTRUCTION CHEMICAL SYSTEMS

Right Care. Right Protection. Right Choice.

RESIKON SUPERMAX

Polycarboxylate based Super Plasticiser for RMC

RESIKON 400 & RESIKON COASTAL

Acrylic Polymer for Repairs

RESI- POLYPROOF & RESIKON 800

Polymer Water Proofing System

ANUVI CHEMICALS®
LIMITED. MUMBAI (INDIA)
AN ISO 9001-2000 COMPANY

Regd. Off.: 205, Narmada, Laxmi Industrial Premises, Pokhran Rd. No.1, Vartak Nagar, Thane (W) 400 606,
Sales. Off.: 212, Godavari, Laxmi Industrial Premises, Pokhran Rd. No.1, Vartak Nagar, Thane (W) 400 606,
Maharashtra, India. Tel : 022- 2585 5400, Fax : 022- 2585 5714. E-mail : anuvi@vsnl.com • Website : www.resikon.net